

हमारे प्रेरणा स्रोत

सर्वहारा प्रकाशन

प्रकाशक की ओर से

समाज बदलने में लगे यौद्धाओं को अपने कामों को नयी गति और नयी ऊर्जा देने की जब-जब आवश्यकता महसूस होती है तो वे अतीत में ऐसे चरित्रों को ढूँढते हैं जो उन्हें प्रेरणा दे सके। उन्हें नया जोश दे सके। हमारे देश व दुनिया के इतिहास में ऐसे अनेकों व्यक्ति रहे हैं जो हमारे प्रेरणा स्रोत हैं और आने वाली पीढ़ियों के लिए भी रहेंगे।

प्रस्तुत पुस्तिका में ऐसे ही कुछ महान व्यक्तियों की चर्चा की गयी है। यह पुस्तिका 'नागरिक' पाक्षिक अखबार (www.enagrik.com) के विभिन्न अंकों में छपे ऐसे लेखों का संकलन है।

सितम्बर, 2015

प्रकाशक
सर्वहारा प्रकाशन

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

1. जो घर फूँके आपनो चले हमारे साथ	01
2. हेनरी बारबूस – रैल्फ फॉक्स	04
3. जॉन ऑफ आर्क – प्रेमचंद	06
4. महान क्रांतिकारी वासुदेव बलवन्त फड़के	09
5. सावित्री बाई फुले	11
6. ब्रेख्त: हमारा अपना कलाकार –अंशु मालवीय	13
7. बीसवीं शताब्दी, होरी धनिया और प्रेमचंद	18
8. शहीद ऊधम सिंह – ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध समझौताविहीन यौद्धा	21
9. भगतसिंह का जीवन – नौजवानों के लिए सतत प्रेरणा स्रोत	24
10. भारतीय क्रांति के प्रतीक भगतसिंह	27

जो घर फूँके आपनो चले हमारे साथ

कबीर की छः सौवी जयन्ती पर

जब कभी भी रूढ़ियों, ढोंग, दोहरेपन और मानव की अपमानजनक स्थिति के विरुद्ध समझौताविहीन विद्रोह के स्वर की चर्चा होती है तो बरबस कबीर का नाम जेहन में आ जाता है। संत कबीर मध्य युग में पैदा हुए थे तब समाज रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था। जाति-व्यवस्था का बोल-बाला था। इस जाति व्यवस्था के कुप्रभावों से इस्लाम धर्म भी आक्रांत हो गया था। कबीर का जीवन काल चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में था जब किसी भी तरह के तार्किक चिंतन की गुंजाइश बहुत कम थी। समाज की सभी संस्थाओं के ऊपर धर्म का बोलबाला था। और धर्म भी वह जिसकी व्याख्या पंडित और मुल्ला लोग करते थे। वे जो व्याख्या करते, वही धर्म माना जाता था। पंडितों और मौलवियों के चंगुल में फंसा समाज तथा इस सबसे पीड़ित समाज का उपेक्षित, दलित और गरीब तबका। जाति-व्यवस्था की अपमानजनक स्थिति से उबरने का इन तबकों के पास कोई रास्ता नहीं, कोई उपाय नहीं। पंडित और मुल्ले ही पढ़े-लिखे थे। शास्त्रों के ज्ञान का एकाधिकार उन्हीं के पास सुरक्षित था। ऐसे समय में इन सब को चुनौती देते हुए और दबे-कुचले लोगों के अंदर अपने स्वाभिमान की भावना का संचार करते हुए कबीर पैदा हुए।

ऊपरी तौर पर देखने पर ताज्जुब होता है कि वे कैसे इतने समझौताहीन होकर समाज के सर्वशक्तिमान लोगों को चुनौती दे सके? कहा जाता है वे पढ़े-लिखे भी नहीं थे। एक तरफ शास्त्रों के शस्त्र लिए हुए थे पंडित और मुल्ला और दूसरी तरफ थे गहन मानवीय सरोकार रखने वाले कबीर। एक के पास थी परम्पराओं की ताकत और साधन सम्पन्न लोगों की असीम शक्ति, जबकि दूसरे के पास थे तर्क की ताकत और सच्चाई के प्रति असीम निष्ठा। पहले वाले निर्भर करते थे अपनी सामाजिक हैसियत के जरिये दूसरों को नीचा दिखाने में तथा उन्हें दास की स्थिति में रखने में जबकि कबीर निर्भर करते थे समाज में समरूपता ले आने में और दलितों व दबे-कुचले लोगों के अंदर समानता का भाव भरने में। पंडित और मुल्ला लोग दूसरों के श्रम पर पलते थे जब कि कबीर खुद भी और अपने समर्थकों को श्रम करते हुए भक्ति की सलाह देते थे।

कबीर चाहे हिन्दू रहे हों या मुसलमान, इस समाज के दलित हिस्से में पैदा हुए थे। वे कभी अपने को जुलाहा कहते थे तो कभी। दोनों का काम कपड़े बुनने का था। यह सिर्फ उनकी पैदायश की ही बात नहीं थी, उनका सामाजिक आधार भी समाज के दबे-कुचले लोगों में केन्द्रित था। चूंकि उस समय जाति-व्यवस्था बहुत कड़ाई से लागू थी, इसलिए यह भी एक कारण था कि वे समाज के दबे-कुचलों और वंचितों में ज्यादा प्रभाव डाल सके।

ऐसे समाज में जहां मानवता के व्यापक हिस्से को पददलित किया गया हो और निरन्तर किया जाता हो, तो स्वाभाविक तौर पर विरोध के स्वर उठेंगे ही। यदि मुक्ति का कोई और रास्ता नहीं दिखाई देता, यदि अपमान को कम करने या समाप्त करने का कोई व्यवहारिक रास्ता नहीं सुझाई देता तो लोग ईश्वर में अपनी मुक्ति तलाशते हैं। ईश्वर की भक्ति करके वे इस सांसारिक कष्ट से मुक्ति सोचते हैं। कबीर के बहुत पहले गौतमबुद्ध हुए थे। उन्होंने भी जाति व्यवस्था को चुनौती दी थी। उन्होंने ब्राह्मणवाद को ललकारा था। लेकिन वे समाज के ऊपरी तबके में समर्थन पाने में सफल रहे थे और उनके जीवन काल में ही, विद्रोही होने के बावजूद वे समाज के ऊपरी हिस्से में स्वीकार्य हो चले थे। बाद में उनके अनुयायी स्थापित व्यवस्था के ही हिस्से बन गये थे। ईसा मसीह उस समय पैदा हुए थे, जब गुलामों के विद्रोह कई-कई बार गुलाम मालिकों द्वारा कुचल दिये गये थे। गुलामों में मुक्ति की चाहत तो थी, लेकिन मुक्ति का कोई रास्ता नहीं था। बार-बार विद्रोहों के कुचले जाने से उनके अंदर भयंकर निराशा व्याप्त थी। ऐसे समय में निराश गुलामों के अंदर आशा का संचार करते हुए ईसा मसीह आए। इससे गुलामों को सांसारिक कष्टों से मुक्ति तो नहीं मिली लेकिन ईसा ने जीने का संबल और अर्थ दिया। कहने का मतलब यह है कि ऐसे समय में जब सामाजिक अत्याचार अपनी पराकाष्ठा पर हों, समाज के व्यापक हिस्से को मानवोचित व्यवहार न मिल रहा हो और व्यावहारिक रास्ता निकालने की सम्भावनायें न दिखाई पड़ती हों तो लोग आध्यात्मिक मुक्ति को, ईश्वर की आराधना को पाकर जीने का संबल व अर्थ पा जाते हैं। विभिन्न धार्मिक आंदोलन समय-समय पर इतिहास में इसी मुक्ति की चाहत के प्रतिफलन रहे हैं। कबीर भी अपने समय में समाज के दबे-कुचले लोगों की मुक्ति के प्रतीक रहे हैं।

यह एक महत्वपूर्ण कारण है कि निर्गुण भक्ति आंदोलन का सूत्रपात करने वाले ज्यादातर लोग समाज के निम्न वर्णीय और निम्नवर्णीय थे। जाति व्यवस्था के पायदान में तथा आर्थिक हैसियत दोनों ही दृष्टियों से निचले हिस्से में थे। उस समय समाज-व्यवस्था के ठेकेदारों के चंगुल में समाज जकड़ा हुआ था। इससे निकलने का कोई रास्ता दिखाई नहीं पड़ रहा था। मध्य युगीन समाज अपेक्षाकृत जड़ समाज था। समाज व्यवस्था को बदलने या उसके विरुद्ध विद्रोह करने का कोई आंदोलन या संघर्ष की परिस्थितियां निर्मित नहीं हो रही थीं। ऐसे में दलितों और गरीबों को वाणी देने का काम कबीर ने किया। कबीर ने तरह-तरह के कर्मकाण्डों पर तीखा प्रहार करते हुए कहा:

“पाथर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं प्रहार

घर की चकिया कोऊ न पूजे, पीस खाये संसार।

आज के समय में यह भले ही बहुत साधारण सी बात लग रही हो लेकिन पंद्रहवीं शताब्दी में जब धर्म ही समाज के केन्द्र में था, उस समय धार्मिक कर्मकाण्ड पर इस तरह के तीखे प्रहार समाज के पंडितों और पाखण्डियों को बौखला देने के लिए पर्याप्त थे। कबीर दो टूक शैली में बात करते हैं। जहां वे एक तरफ पंडितों के पाखण्ड पर हमला करते हैं वहीं दूसरी तरफ वे मुल्लाओं के ढोंग पर भी प्रहार करने से नहीं चूकते। वे कहते हैं,

“दिन के रोजा रहत हैं, रात हनत हैं गाय, कह कबीर ता दास से, कैसे खुशी खुदाया।”

कबीर का निराकार ईश्वर न तो इस्लाम धर्म के मुल्लाओं से हू-ब-हू लिया गया है और न ही हिन्दुओं के किसी पंथ से। वे तो निराकार ईश्वर के अनुयायियों के पाखण्ड पर भी उसी तीखेपन के साथ वे पत्थर पूजने वाले साकार ईश्वर की मान्यता मानने वालों के पाखण्ड पर करते हैं लेकिन वह रहती है भक्ति ही। शायद यह उस समय के आस-पास चल रहे सूफी आंदोलन का भी प्रभाव पड़ा हो। लेकिन सूफी आंदोलन में समाज में व्याप्त कुरीतियों और पाखण्ड के प्रति कबीर जैसा विद्रोह तेवर नहीं है। हां, एक बात की समानता है कि दोनों मानव के प्रति प्रेम का भाव रखते हैं। दोनों धार्मिक सहिष्णुता का भाव रखते हैं। दोनों धार्मिक सहिष्णुता का भाव रखते हैं। कबीर जहां कहीं भी अपने ऊपर रहस्यवाद का आवरण डाले हुए हैं, वहां एक तरफ तो सूफी आंदोलन का प्रभाव है वहीं दूसरी तरफ नाथ सम्प्रदाय का भी प्रभाव उन पर दिखाई पड़ता है। गोरखनाथ सम्प्रदाय के अनुयायी योग और कुण्डलिनी जागृत करने की कसरत करते थे और इसके जरिये वे दुनियावी तकलीफों से मुक्ति तलाशते थे। कहीं-कहीं कबीर में भी इनका प्रभाव दिखाई पड़ता है। लेकिन कबीर के अंदर सामाजिक विसंगतियों और पाखण्ड के प्रति जो तीक्ष्णता है, वह उस समय के किसी भी आंदोलन में नहीं दिखाई पड़ती।

यहां एक प्रश्न उठता है कि कबीर के विद्रोही तेवर क्यों अंततोगत्वा ईश्वर की आराधना या रहस्यवाद में परिणत हो जाते हैं? जैसे कि ऊपर बताया जा चुका है कि इसका कारण यह है कि जब सामाजिक विसंगतियों से निपटने का कोई व्यवहारिक रास्ता नहीं दिखाई दे रहा हो तो लोग मुक्ति का मार्ग ईश्वर की आराधना में तलाशते हैं। कबीर के साथ भी ऐसा ही हुआ। उन्होंने पाखण्ड पर, दोहरेपन पर और प्रचलित कर्मकाण्डों पर तीखे व्यंग्यात्मक प्रहार किया। लेकिन उस समय समाज में ऐसी कोई चिंतनधारा नहीं विकसित हो सकती थी। इसका कारण इस तथ्य में निहित है कि उस मध्य युगीन जकड़बंदी वाले समाज में अभी नए समाज के बीज नहीं पड़े थे। इसलिए कबीर अपने युग की सीमाओं के भीतर की ही चेतना पैदा कर सकते थे। जिस प्रकार ईसा मसीह अपने युग की सीमा में ही दासों को मुक्ति का मार्ग बता सकते थे, उसी प्रकार कबीर भी अपने युग की सीमा में ही चिंतन कर सकते थे।

इसी से जुड़ा एक प्रश्न और उठता है कि क्यों जिस तीक्ष्णता के साथ कबीर ने समाज के मठाधीशों पर प्रहार किया, उस तीक्ष्णता को आगे के भक्ति आंदोलन के लोग जारी नहीं रख सके? ढोंग, पाखण्ड और सामाजिक मठाधीशों के विरुद्ध विद्रोही तेवर बाद के सूरदास और तुलसीदास वगैरह में नहीं दिखाई पड़ता। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि भक्ति आंदोलन की शुरुवात समाज के निम्न वर्णीय और निम्न वर्णीय लोगों ने की थी। जैसा कि हर समय होता है कि सबसे पहले समाज के निम्न वर्णीय-निम्नवर्णीय आंदोलन को समाज के ऊपरी तबके उसे हिकारत की निगाह से देखते हैं, उसको दबाने की कोशिश करते हैं। लेकिन जैसे-जैसे वह एक सामाजिक शक्ति बनता जाता है तो उसका प्रभाव समाज के उच्च वर्णीय, उच्च वर्णीय लोगों के बीच भी फैलता है। कुछ सचेत लोग उसके प्रभाव में आते हैं। बाद में उसको प्रभावित भी करने लगते हैं। अंततोगत्वा उस पूरे आंदोलन में उनका (यानी उच्च वर्णीय-उच्च वर्णीय लोगों का) वर्चस्व स्थापित हो जाता है। लगता है कि भक्ति आंदोलन के साथ भी ऐसा ही हुआ। कबीर जिस वर्ण-व्यवस्था के ऊंच-नीच के विरुद्ध आवाज बुलंद कर रहे थे, वह तेवर बाद में अगर नहीं दिखाई पड़ता तो इसका कारण यह समझ में आता है कि भक्ति आंदोलन के बाद के कवि स्थापित सामाजिक शक्तियों को चुनौती देने के बजाय उसमें आत्मसात होने की तरफ जाते हैं। सूरदास में मानवीय प्रेम और वात्सल्य दिखाई पड़ता है, लेकिन कहीं भी उनकी विषय वस्तु ढोंग और पाखण्ड के विरोध में नहीं है। तुलसीदास में उस समय के समाज के मानवीय भाव हैं, लेकिन परम्परागत वर्ण व्यवस्था के सामाजिक ढांचे को आदर्श के रूप में पेश करते हुए ही वे दिखाई पड़ते हैं। उनमें कबीर जैसा विद्रोही तेवर और तीक्ष्ण प्रहार नहीं है। हालांकि उनके साहित्य में गहराई है। सामंती समाज के मानवीय भाव हैं। शायद यही कारण है कि वर्ण व्यवस्था और उससे उपजी बीमारियों पर कबीर जैसा विद्रोही तेवर बाद के भक्ति आंदोलन के कवियों में नहीं दिखाई पड़ता। परवर्ती काल के कवि उसी वर्ण व्यवस्था द्वारा आत्मसात कर लिये गए।

कबीर का समाज के दबे-कुचले लोगों के प्रति गहन मानवीय सरोकार उनको विद्रोही तेवर अपनाए की तरफ ले जाता है। जिस समाज में अच्छी खासी आबादी को इंसान न समझा जा रहा हो और जो दूसरों के लिए नियम और उपदेश देते हों, उनकी तार्किकता न हो और कहते हों कि ऐसे नियम और उपदेश खुद उन पर नहीं लागू होते तथा यह भी घोषणा करते हों कि ऐसे विधि-विधान शास्त्र सम्मत तथा ईश्वरीय आदेश हैं, भला इस तरह के समाज को वह व्यक्ति कैसे स्वीकार कर सकता है जिसकी अंतरात्मा 'मानव-मानव एक समान है', को मानती हो। वह ऐसे भेदभावों के विरुद्ध तभी तीखेपन के साथ अभिव्यक्ति दे सकता है, जब उसके सरोकार बहुत सघन हों। इसकी अभिव्यक्ति कबीर के इस पद में मिलती है:

**“सुखिया सारा संसार, खाये और सोवे
दुखिया दास कबीर, जागे और रोवे।”**

स्वाभाविक है कि ऐसी वाणी उसी व्यक्ति के मुंह से निकल सकती है जो समूचे समाज की विसंगतियों और समाज-व्यवस्था के ठेकेदारों के विधि-विधानों को पूर्णतया अतार्किक और अन्यायपूर्ण मानता हो। जिसकी अंतरात्मा इसके विरुद्ध विद्रोह करती हो और जो अपने चारों तरफ लोगों को जब तरह-तरह के अन्याय और भेदभाव झेलते हुए देखकर सिहर जाता हो, इसके बावजूद जब लोगों को अन्याय को चुपचाप स्वीकार करते देखकर वह बोल पड़ता हो कि यह तो कबीर ही है जो रात भर जागता रहता है और समाज की हालत को देखकर रोता रहता है। यह इसलिए सम्भव होता है कि कबीर ने सामाजिक पीड़ा को अपनी पीड़ा बना लिया है। व्यक्ति जब सामाजिक पीड़ा में जीने लगता है तो फिर उसको चैन कहां, वह तो समाज का सबसे बैचेन प्राणी हो जाता है। जिसको सिर्फ खाने और सोने से मतलब है, जो खुदगर्ज है, उसके सोचने का दायरा अति सीमित है। इसलिए समाज के अन्य लोगों की पीड़ा उसे परेशान नहीं करती और न ही वह बैचेन आदमी है। लेकिन कबीर की यह सघन पीड़ा सिर्फ जागने और रोने तक ही सीमित नहीं रह जाती बल्कि वे व्यापक सामाजिक हितों की सेवा के लिए अपने निजी हितों को तिलांजलि देने की हद तक जाते हैं। वे जानते थे कि अधिकांश व्यक्ति अपने निजी हितों को बनाये रखने और बचाये रखने की खातिर तरह-तरह के ऐसे समझौते करते हैं जो अंततोगत्वा ऐसे व्यक्ति को मेरूदण्डहीन बना देते हैं और सामाजिक हितों को नुकसान पहुंचाते हैं। इस संदर्भ में वे अपने हितों को त्यागने का आह्वान करते हैं।

**“कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुआठी हाथ,
जो घर फूँके आपनो, चले हमारे साथ।”**

ऐसा विद्रोही स्वर जो निजी हितों को तिलांजलि देकर सामाजिक हितों के लिए अपने को समर्पित करता हो, गहन मानवीय सरोकारों से उद्भूत है। बिना ऐसे सरोकार के और सच्चाई के प्रति बिना दृढ़ आस्था के शक्तिशाली सामाजिक संस्थाओं को चुनौती नहीं दी जा सकती। उनके तीखे व्यंग्य बाण वस्तुतः सीधे-सीधे इस बात की घोषणा हैं कि तमाम संस्थाएं और नियम सभी मनुष्यों के लिए एक होने चाहिए और कि मनुष्य-मनुष्य के बीच सारे भेदभाव मानव

निर्मित हैं। इन सामाजिक भेदभावों को बरकरार रखने वाली ताकतों के ढोंग और दोहरेपन के वे इसीलिए सख्त खिलाफ हैं क्योंकि वे अन्यायियों की मदद करते हैं और अन्यायपूर्ण व्यवस्था के पक्ष में हैं।

जब हम 15वीं शताब्दी के इस युग पुरुष की सामाजिक दृष्टि और तेवर देखते हैं और इसकी तुलना आज के उन लोगों से करते हैं जिनको दुनिया भर के ज्ञान-विज्ञान को समझने के अवसर उपलब्ध हैं, जो कबीर के समय में नहीं थे, और उनको तरह-तरह के दकियानूसी ख्यालों में बंधा पाते हैं तो ऐसा लगने लगता है कि मानो ऐसे व्यक्ति पंद्रहवीं शताब्दी में रहते हों और कबीर बीसवीं शताब्दी के आखिरी वर्ष के प्राणी हों। तब सचमुच कबीर एकदम आधुनिक लगते हैं और वे आधुनिक हैं भी। कारण कि जिस सामाजिक असमानता के विरुद्ध और जिस ढोंग और पाखण्ड के विरुद्ध उन्होंने 15वीं सदी में शंखनाद किया था, वस्तुतः उनको समाप्त करने की वैचारिक व भौतिक जमीन आज उपलब्ध है। कबीर की सीमायें आज के युग में नहीं हैं। लेकिन आज जरूरत है उस समझौताविहीन संघर्ष के कबीर जैसे तेवर की। उनका हर ढोंग और पाखण्ड के खिलाफ संघर्ष उन्हें आधुनिक बनाये हुए है और जब तक समाज में असमानता रहेगी, ढोंगी और पाखण्डी रहेंगे, दकियानूसीपन रहेगा तब तक कबीर उनको ललकारने के लिए मौजूद रहेंगे और वे आधुनिक लगते रहेंगे।

(साभार: नागरिक -वर्ष 2 अंक 24, 16-31 दिसम्बर 1999)

हेनरी बारबूस

-रैल्फ फॉक्स

(उपरोक्त लेख का अनुवाद नरोत्तम नागर ने किया है और इसे उनके द्वारा 'उपन्यास और अनुवादित लोकजीवन' नामक रैल्फ फॉक्स की पुस्तक से लिया गया है- सम्पादक)

कुछ ही सप्ताह पहले की बात है जब मैंने हेनरी बारबूस को पेरिस में हुई विश्व लेखकों की कांग्रेस के मंच पर देखा था : प्रेरणा के स्रोत, नेतृत्व करते हुए, हृदय में एक नये संसार के लक्ष्य के प्रति भक्ति की जोत जगाये!

दुबला-पतला शरीर, क्षीण ढांचा। शुभ्र मस्तिष्क। गालों की हड्डियां उभरी हुईं। आंखें भीतर की ओर गहरी धंसी; किन्तु अनुप्राणित, जिनमें दुर्बल शरीर के बावजूद थकान की छाया तक नहीं। जिसने भी उन्हें देखा, प्रभावित हुए बिना नहीं रहा।

खचाखच भरे और उत्सुकता से दम साधे उस हॉल में जैसे ही बोलने के लिए खड़े हुए, उनके अभिनंदन में जोरों से करतल ध्वनि गूंज उठी। इस गूंज ने उन्हें अपने में समेट लिया। उसकी प्रेम की गरमाई से एक क्षण के लिए वह विचलित से हो उठे।

ऐसा लगता था मानो यह आदमी और समूची जनता एक हो गये हों।

फ्रांस के मजदूर और क्रांतिकारी बुद्धिजीवी हेनरी बारबूस को हृदय से चाहते थे- वह उनके प्यारे थे। इस प्रेम का कारण था उनके लक्ष्य के प्रति, समूची दुनिया के मजदूरों के लक्ष्य के प्रति, साम्यवाद के लक्ष्य के प्रति, बारबूस की गहरी और अडिग लगन।

एक बार फिर, केवल तीन सप्ताह बाद, मैंने उन्हें दुबारा देखा। और यह उनका अन्तिम दर्शन था। लेकिन संभवतः यह उनके जीवन का सबसे महान दिवस था। वह एक टैक्सी में खड़े थे। उनका लंबा, कुछ-कुछ झुका हुआ शरीर एक विशाल लाल झंडे की परतों में घुलमिल रहा था। पेरिस की जनता के एक महानतम प्रदर्शन की, एक ऐसे प्रदर्शन की जो कि क्रांतियों के इस नगर के लिए भी अभूतपूर्व था, वह अगुवाई कर रहे थे।

यह 14 जुलाई का दिन था, दुनिया को बदल देने वाली 1789 की महान क्रांति की वर्षगांठ का दिन। जन-मोर्चा आगे बढ़ रहा था। लगभग पांच लाख स्त्री और पुरुष, उन अधिकारों की रक्षा के लिए कमर कसे आगे बढ़ रहे थे जिन्हें इस क्रांति ने जीता था। उनकी मांग थी- मेहनतकशों को रोटी दो, काम दो, शांति दो। वे उन फासिस्ट लुटेरों को निहत्था करना चाहते थे जो सभ्यता को आतंकित कर रहे थे।

उस महान जन आंदोलन की सफलता का श्रेय जितना अधिक हेनरी बारबूस को है उतना अन्य किसी को नहीं। और उस आंदोलन का प्रभाव, आज भी समूची दुनिया में अनुभव किया जा सकता है। यह हेनरी बारबूस ही थे जिन्होंने युद्ध तथा फासिज्म के विरुद्ध एकता के लिए एमस्टर्डम-प्लेयल आंदोलन की नींव डाली। और 14 जुलाई 1935 को जिसे संभव बनाया। जन मोर्चे की महान विजय भी उनकी ही विजय थी।

हेनरी बारबूस का स्मरण सदा इसी रूप में किया जाना चाहिए- फ्रांस के शानदार मजदूरों के प्रेम से आलोकित तथा उनकी क्रांतिकारी जीत से सदा अनुप्राणित। तो भी उनके जर्जर शरीर और जमाने की चोट खाये चेहरे को देखकर यह कभी नहीं भुलाया जा सकता था कि कितना भयानक और कितना कठिन संघर्ष उन्हें जीवन में करना पड़ा। उनका जन्म 1873 में हुआ था, और फ्रांसीसी बुद्धिजीवियों की युद्ध-पूर्व की पीढ़ी के सांचे में वह ढले थे। उनकी किंकर्तव्यविमूढ़ता, और उनकी निराशावादी सौन्दर्य-भावना, उन्हें उन्हीं से मिली थी।

कवि और उपन्यासकार, एक फैशनेबुल पत्रिका के तरुण साहित्यिक संपादक जन साधरण से न तो उनका कोई संपर्क था, न उसके प्रति सहानुभूति। तब भी उनमें एक चीज थी। यह चीज थी, गहरी संवेदनशीलता और मानव जीवन की बिडम्बना के प्रति क्षोभा।

जैसा कि लेनिन ने कहा था, वह एकदम अनजान थे, स्वयं अपने विचारों तथा अंधविश्वास से दबे हुए- मध्यम वर्ग के एक शांतिप्रिय, विनम्र, कानून पसंद सदस्य थे। एक हत्याकांड ने हेनरी बारबूस की कायापलट कर दी। यह हत्याकांड था साम्राज्यवादी युद्ध का हत्याकांड। अगर एक बार फिर लेनिन के ही शब्दों को इस्तेमाल करें तो हम कहेंगे कि वह एक अत्यंत दृढ़ प्रतिभाशाली तथा न्यायप्रिय व्यक्ति बन गया।

उनकी पुस्तक **ले फ्यू (आग की लपटों में)** युद्ध के विरुद्ध पहली आवाज थी। वह एक ऐसी आवाज थी जिससे पता चलता था कि इस पुस्तक का लेखक खाइयों के नारकीय जीवन से गुजरा है और उसने सभी कुछ अंत तक देखा है।

'आग की लपटों में' एक ऐसी पुस्तक है जो चौकस, किन्तु कुछ-कुछ अनिश्चित डगों से, तो भी पूरी स्पष्टता और असंदिग्धता से, केवल एक ही सबक देती है; वह यह कि युद्ध के पाप का अंत तभी हो सकता है जबकि हर देश के उन अपराधियों के खिलाफ एक जीवनांत युद्ध छेड़ दिया जाए तो जन समुदायों को बलि का बकरा बना रहे हैं।

1917 में, स्वयं एक सैनिक- एक अफसर- द्वारा ऐसी पुस्तक का लिखा जाना व्यक्तिगत और सामाजिक साहस का उल्लेखनीय कृत्य था। लेनिन ने सदा जोर देकर कहा था कि हेनरी बारबूस की पुस्तक **आग की लपटों में** और उसकी अगली कड़ी '**आलोक**' पश्चिमी देशों की जनता में क्रांतिकारी भावना के संचार की ज्वलंत उदाहरण थी।

तब से बारबूस के सामने केवल एक ही लक्ष्य रहा है: कम्युनिज्म के लिए क्रांतिकारी संघर्ष का लक्ष्य। युद्ध के कारण उनका स्वास्थ्य ध्वस्त हो गया था। निजी जीवन उनका ऐसा था कि सुख पास नहीं फटकता था। लेकिन वह थे कि अपने आपको और अपनी प्रतिभा को पूर्णतया मजदूर वर्ग की सेवा में होम कर दिया। उनका महान उपन्यास जंजीरों, बावजूद इसके कि उसे पूर्णतया सफल प्रयास नहीं कहा जा सकता, युगों-युगों से मानव को दासता की जंजीरों में जकड़ने के क्रम का चित्रण करता है। इसके पन्ने हर देश में जनता के उत्पीड़कों तथा आतताइयों के प्रति मानव की घृणा की दहकती कहानियों से भरे हैं।

उत्पीड़ितों के प्रति उनके महान प्रेम और शोषकों के प्रति उनकी घृणा के वे साक्षी हैं।

फ्रांस में जोला जैसे महान लेखक को, सौन्दर्यवादियों और बुद्धिजीवियों ने जिसे रद्दी की टोकरी में फेंक दिया था, फिर से अपने पद पर स्थापित करने का काम सबसे पहले जिन लोगों ने किया, उनमें हेनरी बारबूस भी थे। साथ ही पहले 'क्लार्ते' और बाद में 'मॉन्डे' के संपादक की हैसियत से, फ्रांस के बुद्धिजीवियों के आंदोलन में उन्होंने क्रमशः एक सुदृढ़ वामपक्ष का निर्माण किया।

उनकी अन्तिम पुस्तक, जो कुछ दिनों में इंग्लैण्ड में प्रकाशित होने वाली है, स्टालिन की जीवनी है। यह पुस्तक दुनिया के मजदूरों के नेता तथा सोवियत संघ में एक स्वतंत्र, समाजवादी समाज के सफल निर्माण के प्रति एक महान लेखक की श्रद्धाजलि है।

मृत्यु से पहले वह लेनिन के पत्रों को टिप्पणियों सहित एक संस्करण तैयार करने में जुटे हुए थे। इसके साथ ही वह एक महान उपन्यास भी लिख रहे थे जिसका उद्देश्य उन परिवर्तनों को प्रतिबिम्बित करना था जो कि आज सभी मानवीय संबंधों में हो रहे हैं।

बारबूस का नाम समूची दुनिया में फैला हुआ है। शायद ही कोई भाषा हो जिसमें उनकी कृतियां अनुदित न हुयी हों। उन लाखों लाख लोगों के लिए भी, जिन्होंने कभी उन्हें देखा नहीं, जो उनके देश तक को नहीं जानते हैं, वह सभ्यता की आहत आत्मा के प्रतीक थे, वह पूंजी के दानवों और उनके पिट्टुओं के प्रति विरोध और विक्षोभ की साकार प्रतिमा थे।

वह एक ऐसे मानव थे जिन्होंने कटु संघर्षों के दौरान अपने-आप को नये सांचे में ढाला, एक ऐसे सांचे में ढाला, एक ऐसे सांचे में जिससे कि वह उस बहुलक्षी जनता की आवाज बन सके, जो पूंजीवादी क्रूरता तथा मानवीय संबंधों के पूंजीवादी भ्रष्टीकरण से सदा के लिए मुक्त एक नये और उन्मुक्त समाज के लिए संघर्ष कर रही है।

बारबूस, जिनकी महान पुस्तक 'आग की लपटों में' शत्रु के मुंह पर दागी नयी गोली थी और जो अभी अपने को अकेला अनुभव करते थे, मोर्चे पर लड़ते हुए मरे। संघर्षों ने यद्यपि उन्हें निःसत्व कर दिया था, तो भी वह विजय की और प्रयाण करती अनगिनत सेना के एक प्रिय नेता बन चुके थे।

ऐसे समय में जबकि एक नया विश्व युद्ध सिर पर मंडरा रहा है, क्रांति के वीर हैनरी बारबूस से हम विदा लेते हैं और उनका अभिनन्दन करते हैं।

डेली वर्कर, 31 अगस्त 1935

(साभार : नागरिक वर्ष-17, अंक-01, 01-15 जनवरी, 2014)

जॉन आफ आर्क

-प्रेमचंद

जिन लोगों ने महिला वर्ग को व्यर्थ और निकम्मा समझ रखा है वास्तव में वे भारी गलती पर हैं। कोई युग ऐसा नहीं है जिसमें उन्होंने जनता के मन में अपनी प्रतिष्ठा और बड़ाई का सिक्का न जमाया हो। इतिहास साक्षी है कि युद्ध क्षेत्र में भी उन्होंने शूरवीरता और साहस के वे आश्चर्यजनक सीन प्रस्तुत किए हैं जिन्हें पढ़कर और सुनकर आज जनता आश्चर्य-चकित रह जाती है। ये गुणवान और शुभ आचरण का पर्याय देवियां जिस समय ज्ञान और कला तथा दया और गुणों की ओर पग बढ़ाती हैं तो लीलावती सी अनसुलझी पहेलियां दृष्टि में आती हैं और यदि वे धनुष-बाण से सुसज्जित होकर शत्रु के समक्ष मैदान में उतरती हैं तो पंक्तियों की पंक्तियां और परे के परे साफ करती चली जाती हैं। वे पुरुषों से किसी बात में भी कम नहीं। उनका सच्चा उत्साह, देशभक्ति, स्वाभिमान, पवित्रता, सहानुभूति और अन्य गुण पूजा के योग्य हैं। पूरे हिन्दुस्तान और विशेषकर राजपुताने में ऐसी घटनाएं सामने आती हैं जिनसे पता चलता है कि इन हिन्दुस्तानी देवियों ने अपने देश, अपनी पवित्रता और अपने सतीत्व पर प्राण न्यौछावर कर दिए और जलकर राख हो गईं, लेकिन अपने धर्म और जन्मभूमि पर मरते दम तक आंच न आने दी। अहिल्याबाई, रानी पद्मिनी, रजिया बेगम, चांद बीबी, नूरजहां और इन अनेक देश पर मर मिटने वालों के उदाहरण मिलेंगे जिनके नाम जीवन-पटल पर चांद-सूरज की भांति टपका करेंगे। इन्हीं देवियों के कल्याणकारी अवतरण की कृपा से हमारा हिन्दुस्तान स्वर्ग जैसा हो रहा था। आज हमारे राष्ट्रीय पतन का मुख्य कारण यही है कि हमने उनको अपना गुलाम बनाकर, उनको अपने पांवों की जूती समझकर और मानसिक क्षमताओं में अपने से कम मानकर उन्हें ज्ञान और कला के खजाने से वंचित कर दिया है। उनके लिये शिक्षा का द्वार बन्द कर दिया। परिणाम यह है जो हम आज आंखों से देख रहे हैं।

किसी देश का विकास और खुशहाली उसके उन युवा बच्चों पर आधारित है जिन्हें पुरुष नहीं वरन् माताएं बनाती हैं। हमने उनको पर्दे और उपेक्षा में रखकर स्वतन्त्रता की झलक और नये युग के विकास से वंचित कर दिया। वे शारीरिक और मानसिक रूप से दुर्बल और अशक्त होती गईं और वही दुर्बलता, अशक्तता, अज्ञान और अशिक्षा हमें उत्तराधिकार में मिली। माताएं ही हमको साहसी और गुणवान बनाया करती हैं और भावी खुशहाली तथा विकास की आधारशिला उनकी गोद में रखी जाती है। माताओं की बहादुरी, उनके साहस और दृढ़ संकल्प से ही राष्ट्रीय भवन के निर्माताओं को मसाला प्राप्त होता है। जहां के पूर्व व वर्तमान आविष्कारक और आविष्कार, ज्ञानी और विद्वान, सर्वज्ञ और विवेकी, वैज्ञानिक और बुद्धिमान माताओं के सुन्दर गुणों का गुलदस्ता हैं। ये गुण माताएं अपने बच्चों में शैशवकाल से ही कूट-कूटकर भर देती हैं जो भावी पीढ़ियों में मानव जाति पर जान न्यौछावर करना बच्चों का खेल समझते हैं। अतीत के वैभव पर हमारा गर्व करना मानो रेत के ऊंचे टीले पर खड़ा होना है जिसका एक पल का भी भरोसा नहीं कि किस समय वह प्रतिकूल हवा की टक्कर से खील-खील हो जाए और तितर-बितर होकर गिर पड़े। रूस, जापान, इंगलिस्तान, फ्रांस, इटली - चाहे किसी भी साम्राज्य को लीजिए, उस देश की सफलता, विकास, समृद्धि, स्वतन्त्रता और उसकी व्यवस्था तथा स्थिरता के मूल में आपको उस देश की उच्च साहसी महिलाएं ही दिखाई देंगी।

आज मैं आपको फ्रांस के एक निर्धन लेकिन शरीफ खानदान की लड़की की कथा सुनाता हूं जिसने देशभक्ति के नशे में चूर होकर किस प्रकार अपने प्रिय देश के लिए स्वयं को कष्टों व खतरों की जलती हुई आग में झोंक दिया और उस पर बलिदान हो गईं। ऐसे पुण्यात्मा लोग जो दूसरों की भलाई के लिए अपने जान-माल की चिन्ता न करें, संसार में दुर्लभ हैं। हां, अपनी मुक्ति के अभिलाषी, यश के इच्छुक, अपनी श्रेष्ठता तथा खुशहाली के दीवाने आपको बहुत से मिल जाएंगे। लेकिन निःस्वार्थ और निरुद्देश्य दूसरों की सेवा करने वाले देश के सच्चे हितैषी तथा जान छिड़कने वाले यदा-कदा ही दिखाई देंगे। कैसा अच्छा हो यदि उनको इस बात से परिचित कराया जाय कि जन सेवा ही ईश-मिलन है तो नरक के भयावह और हृदयद्रावक दृश्य स्वर्ग के शाश्वत सुख और विजयोत्सास में परिवर्तित हो जाएँ। किसी ने सत्य ही कहा है -

खुदा के आशिक तो हैं हजारों, बुतों में फिरते हैं मारे मारे।

मैं उसका बंदा बनूँगा जिसको खुदा के बंदों से प्यार होगा।।

, , , ,

मलूल अज हमरहान बूदन तरीके कारदानी नीस्त।

बेकश दुश्वारिय मंजिल ब यादे अहदे आसानी।।

सहायत्रियों से दुखी होना निपुणता का व्यवहार नहीं है। सुख के समय को स्मरण करके यात्रा की कठिनाइयों को सहन किया जा सकता है।

आज देश इसी प्रश्न को हल करने में व्यस्त है कि महिलाओं की वर्तमान दशा चिन्तनीय है। अमरीका के प्रेजीडेंट रूजवेल्ट ने एक स्थान पर अपने भाषण में कहा कि 'महिलाएँ ही देश की सम्पदा हैं। उनकी भलाई देश की भलाई है। यदि वे दुर्बल हैं तो देश दुर्बल है।' आज देश के नेता इसी भेद को खोलने पर तुले हुए हैं।

जिस समय फ्रांस और इंगलिस्तान उस शतवर्षीय युद्ध में व्यस्त थे जो एडवर्ड तृतीय के युग में सन् 1328 में प्रारम्भ हुआ था और जो सन् 1453 में हेनरी षष्ठम के युग में समाप्त हुआ तो मित्रता, श्रेष्ठता और बड़ाई से चमकते अंग्रेज उस समय आए दिन शहर पर शहर जीतते जाते थे और बड़े-बड़े प्रान्तों और शहरों को अधिकृत कर चुके थे। समस्त बंदरगाह और किले उनके हाथ में आ गए थे। पोर्ट स्मिथ, क्रेसी, कैले, पोसिट्रिज, पेरिस, रून, पास्टस सब अंग्रेजों के राज्य में सम्मिलित हो चुके थे। दूसरे शब्दों में मानो वे सभी फ्रांस के प्रान्त बन गए थे। फ्रांसवासियों की दशा अकथनीय थी। वे आए दिन की पराजयों से दुखी थे। हर लड़ाई में हार ही हार हो रही थी। इंगलिस्तान का उत्कर्ष तथा प्रभुत्व प्रसिद्धि के शिखर पर पहुंच गया था, दिलों पर उनका

भय छा रहा था। उस समय समूचे योरोप की दृष्टि अंग्रेजों पर लगी हुई थी। लेकिन जय के साथ पराजय फूल में कांटे की भांति सम्बद्ध होकर साथ-साथ चलती है क्योंकि प्रत्येक उत्थान के बाद पतन आवश्यक है। जब जीत पर जीत प्राप्त करते हुए उन्होंने पांच वर्ष के अन्दर लगभग समूचा फ्रांस जीतकर अधीन कर लिया और जब ऑर्नलीज की घेराबंदी में सफल होने को ही थे कि अचानक वह आश्चर्यजनक घटना घटी जो विश्व-इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगी। जब फ्रांस की ऐसी गम्भीर दशा थी और समस्याओं तथा कष्टों का सामना करते-करते जनता अन्ततः निराश हो चुकी थी और विदेशी आक्रान्ताओं के निरन्तर आक्रमणों से देश नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था, देश से सुख-शान्ति विदा हो चुकी थी, उस समय जॉन ऑफ आर्क एक देवदूत की भांति अवतरित हुई जिसे ईश्वर ने फ्रांस की दुर्दशा पर दया करके उसके बचाव और सहायता के लिए भेजा था। वह डोमरेमी में स्थित लोरीन के एक देहाती मजदूर की लड़की थी। उनके माता-पिता बहुत गरीब थे और झोंपड़ी में रहकर मेहनत-मजूरी से अपना पेट पालते थे। अपने घरेलू कार्यों और सीने-पिरोने से निपटकर जॉन ऑफ आर्क खेतों में भेड़ तथा अन्य पशु चराया करती थी। उस समय घर-घर पर अंग्रेजों का आतंक जमा हुआ था। लोग अपने घर-संपदा की सुरक्षा कठिनाई से कर सकते थे। प्रत्येक व्यक्ति के मुंह पर पुरानी भविष्यवाणियां थीं। वह काल दुर्भाग्य का काल माना जाता है। ब्रंस नामक एक फ्रांसीसी कवि ने भविष्यवाणी की थी कि लोरीन के बालूत के जंगलों में एक लड़की पैदा होगी, और सौभाग्य से बालूत के जंगल डोमरेमी की पहाड़ियों में ही थे। प्रायः लोग कहा करते थे कि जिस फ्रांस को एक औरत (साम्राज्ञी इसाबेला से आशय है) ने अपने हाथों से खोया है वह एक लड़की के सहारे स्वाधीन होगा। और, यह भी प्रसिद्ध था कि लोरीन की एक उत्साही लड़की फ्रांस को स्वतंत्रता का प्रकाश प्रदान करेगी। इन किंवदन्तियों ने उस तरह वर्षीय लड़की के कोमल हृदय को आश्चर्यजनक रूप से प्रभावित किया। एक दिन उसने यह स्वप्न देखा कि महान् देवदूत जिबराइल उसे धर्मात्मा, आस्थावान, देश के लिये पूर्णतः समर्पित और पवित्र बनने का उपदेश दे रहे हैं। इसके बाद संत कैथेराइन और मार्गरेट प्रकट हुईं और उसे उपदेश देकर लुप्त हो गईं। आध्यात्मिकता अवतरित होने तथा अन्य आम चर्चाएँ होने पर भी जब उसने फ्रांस की ऐसी दुर्दशा देखी कि उसका प्यारा देश विजयी आक्रान्ताओं के आक्रमणों से बरबाद हो चुका है, लोगों का साहस टूट गया है और उत्साह ठंडा हो गया है, हर छोटा-बड़ा अपनी दुर्बलता और निर्धनता के हाथों रो-पीट रहा है, शत्रु के सामने आ डटना सरल कार्य नहीं रह गया है, तब देश के शासन और हानि व दुर्दशा से परिचित होकर वह शोक में डूबी हुई तथा अत्याचारों की तलवार से मारी हुई कांप उठी। और, दूसरी ओर जब उसने अपनी विपत्ति तथा निर्धनता का चिन्तन किया तो अनायास आंसू भरकर कहने लगी -

“क्या हाथ उठाऊं बहरे दुआ सूप आसमां
बर आए जो कभी वह मिरी आरजू नहीं”

लेकिन फिर उसने अपने शोकाकुल हृदय को ढाँढ़स बंधाया और उसके शरीर में एक बिजली सी कौंध गई। राष्ट्रीय स्वतंत्रता का नाम सुनकर उसका खून उबलने लगा। उसने राष्ट्रीय पराधीनता की शर्म अनुभव की। उसका दिल भर आया और उस गुप्त रहस्य तथा आकाशवाणी की याद ने उसके घायल हृदय को चीर दिया। वह देशभक्ति में डूबी बैरागन एक सच्चे सन्यासी की भांति एक वृक्ष के नीचे अपने परम पिता की गोद में बैठ गई। उसने अपना दायां हाथ आकाश की ओर उठाया और बाएं हाथ में तलवार लेकर सम्पूर्ण समर्पण से प्रार्थनारत हो गई। उसकी आंखों से आसुओं की बूँदें टप-टप टपक रही थीं, उसके मुंह से ये शब्द निकल रहे थे कि ऐ सृष्टि के रचयिता परमात्मा, ऐ दोनों लोकों के स्वामी और अन्तर्दामी, मेरे देश की दशा पर दया कर, मेरे प्यारे देशवासियों को इस बरबादी और विनाश से मुक्त कर, मुझे शक्ति दे कि मैं देश की सेवा कर सकूँ, मुझे देशभक्ति की क्षमता प्रदान कर, अपनी मातृभूमि से प्यार करने का साहस दे, मेरे भाइयों को विदेशी शासन से बचा, अन्याय-अत्याचार का सामना करने का साहस दे। मेरा शरीर इस देश के जान-माल पर अर्पित है। ऐ परम पिता! मेरी इस विनम्र प्रार्थना और इच्छा को पूर्ण कर। उसकी प्रार्थना ईश्वर के दरबार में स्वीकार हुई और जब उसने वह आवाज सुनी तो उसका मुरझाया हृदय गुलाब के फूल जैसा खिल गया, उसका अस्तित्व उस चुम्बकीय क्षमता से भर गया जो बाद में उसके जीवन का सर्वश्रेष्ठ गुण सिद्ध हुआ। कहते हैं कि उसकी वाणी में विचित्र प्रभाव था और उसकी उपस्थिति मनुष्य में नवीनता और स्फूर्ति का संचार करती थी। उसके चेहरे से वह शराफत और रौब टपकता था जो मनुष्यों के दिल को जीत लेता है। इस प्रार्थना से उसके हृदय को शक्ति प्राप्त हुई। उसने हाथ में तलवार संभाली, उसे चूमा और आकाश की ओर देखकर संकल्प लिया कि मैं आज से अपना तन-मन देश को समर्पित करती हूँ। एक चित्रकार ने जहन का ऐसा चित्र बनाया है जिसमें वह यह कहती हुई दिखाई देती है कि जब तलवार हाथ में है तो फ्रांस को छुड़ाना और स्वाधीन करना क्या बड़ी बात है। इसके बाद वह गांव के पादरियों और लोगों के कहने के प्रतिकूल कप्तान के पास गई और उससे कहा कि मुझे कैप में ले चलो। वह वैकोलीवर में गई, फिर चिम्यान। वहां उसने अपने मिशन का वर्णन किया कि मैं एक मूर्ख लड़की हूँ लेकिन परमात्मा ने मुझे आदेश दिया है कि मैं आर्लनीज को अंग्रेजों के हाथों से बचाऊं और फ्रांस के राजा को सिंहासन पर बैठाऊं। मुझे न प्रशंसा की इच्छा है न पुरस्कार की चिन्ता, न शत्रु का भय न प्रतिद्वंद्वी का डर। मैं केवल ईश्वरीय इच्छा और ईश्वरीय आदेश पूरा करने को आई हूँ। अलहमीस के बड़े पादरी ने उन ईश्वरीय प्रेरणाओं और खुलासों की चर्चाओं का वर्णन करके सम्राट् चार्ल्स को प्रेरणा दी कि वे इस समय उसकी सहायता से लाभ उठाएं। जिसकी निराशा आशा में बदल गई ऐसे फ्रांस के राजा ने इस अवसर को अच्छा समझकर उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने की अनुमति दे दी। फिर वह जान हथेली पर रखकर सेनापति बन, घोड़े पर सवार हो, जिरह-बख्तर पहन, सिर पर लोहे की टोपी रखकर, हाथ में फ्रांस का शाही झंडा लेकर मौत की हंसी उड़ाने के लिए लड़ाई के मैदान में कूद पड़ी। वह शत्रु-सेना के दस हजार सशस्त्र जवानों पर इस प्रकार टूट पड़ी जैसे कोई बाज अपने शिकार पर बुरी तरह टूटता है। यद्यपि इस लड़ाई में उसे गहरे जख्म लगे लेकिन उसने आर्लनीज का घेरा उठवा दिया। अंग्रेज भयभीत हो गए और फ्रांसीसियों ने उसे दया का दूत माना। जो लड़ाई के अतिरिक्त कुछ भी पसंद नहीं करते थे, उन फ्रांसीसी जनरलों की कोई परवाह न करती हुई वह जीत के बाजे बजाती तथा बधाई और कुशलता की पुकार सुनती हुई 14 जुलाई 1429 को रेम्स में प्रविष्ट हुई और जो भी सामने आता गया, उसे जीतती गई। और, उसने वहां पहुँचकर दूसरे दिन 17 जुलाई को बड़े गिरिजाघर में फ्रांस के राजा चार्ल्स के राज्यारोहण की रस्म पूरी की।

उसके बाद पेरिस और कम्पेकिन की घेराबंदी होती रही जहां उसकी स्वामिभक्त और उत्साही सेना ने बड़े शानदार महान् कार्य किए। लेकिन अन्तिम शहर की सुरक्षा के समय वह ड्यूक ऑफ बरगंडी के हाथों गिरफ्तार हो गई जिसने उसे बंदी बना लिया और बाद में अंग्रेजों के हाथ बेच दिया। जब उसे युद्धक्षेत्र से बंदीगृह में ले गए, उस समय का दृश्य अत्यन्त हृदयद्रावक है। कड़ी परीक्षा का अवसर था और वह मृत्युपाश में फंसी पुकार-पुकारकर कह रही थी कि देश के प्रेम में इस सिर पर जो कुछ भी बीते वह कम है।

फिर अहंकारी न्यायालय का द्वार खुला। 3 जनवरी 1431 को उसे न्यायालय के अधिकारियों को सौंप दिया गया जहां छह दिनों तक उसकी पेशी होती

रही। 24 मार्च को उस पर शत्रु और जादूगरनी होने का आरोप लगाया गया और वह 30 मई 1431 को 'ऊन' स्थान में जादूगरनी मानकर जिन्दा ही दहकते अंगारों के हवाले कर दी गई। और, वह पवित्र आत्मा उन मुहब्बत का दम भरने वाले झूठे दोस्तों और अत्याचारपूर्ण व्यवहार करने वाले निर्दयी तथा कातिल शत्रुओं से सदा के लिए उड़कर उस स्थान पर जा पहुंची जहां मानव शरीर की बुराई और विश्वासघात कुछ काम नहीं आते और जहां थके-हारों को स्थायी सुख-चैन प्राप्त होता है। जिन फ्रांसवासियों को बचाने के लिए उसने प्रसन्नता से शहादत का जाम पिया और जिन्होंने अपनी मुक्तिदाता को बचाने का तनिक भी प्रयास नहीं किया उनके लिए और उसकी वीरता पर आश्चर्यचकित होकर उसकी शूरवीरता का लोहा मान चुके लेकिन जिन्होंने अपने शत्रु के सुगुणों का सम्मान न किया, ऐसे अंग्रेजों के लिए अन्ततः यह एक लज्जाजनक कहानी है।

लड़ाई फिर भी चलती रही लेकिन उसके बाद अंग्रेजों के पांव ऐसे उखड़े कि फिर न जम सके। सफलता की आशा जाती रही क्योंकि ड्यूक ऑफ बरगंडी फ्रांस के राजा की ओर मिल गया। उसके बाद आपस में समझौता हो गया लेकिन चार्ल्स अष्टम ने फिर नोरमेंडी को जीत लिया और चार वर्ष के अन्दर ही वह गार्डन और बोर्डो का स्वामी बन गया। और इस प्रकार सन् 1453 में शतवर्षीय युद्ध समाप्त हुआ लेकिन उस समय केवल एक शहर कैले अंग्रेजों के अधिकार में शेष रह गया था।

जॉन के व्यक्तित्व में बहादुरी, पुरुषत्व, साहस, अकूत शक्ति, पवित्रता कूट-कूटकर भरी हुई थी। शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से वह अत्यन्त स्वस्थ और सुदृढ़ थी। उसके चेहरे-मोहरे से जैसा तेज बरसता था वैसा ही उसके शरीर से रौब-दाब टपकता था। एक चितरे ने जॉन का इस प्रकार चित्र बनाया है जिससे उसकी आध्यात्मिकता, धर्मनिष्ठा, सौन्दर्य, सरलता और अन्य वे गुण स्पष्ट दिखाई देते हैं जो उसके जीवन का सर्वश्रेष्ठ भाग थे।

जॉन के जीवन में शौर्य और सन्तों जैसे गुण विद्यमान थे जो उसके बाल्यकाल से ही उजले दिन की भांति प्रकट थे। उसमें महान् कार्य करने की असीम शक्ति थी। वह हर समय कठिनाइयों और कष्टों का सामना करने के लिए तैयार रहती थी। उसमें आदमियों में प्राण फूंकने की आश्चर्यजनक शक्ति थी। उसकी समस्त विजयों और वीरता और बलिदान के कामों को अपनी आंखों से देखने वाले एक प्रत्यक्षदर्शी ने लिखा है - जो समस्त घटनाएं मैंने देखी, सुनी और मेरे समक्ष घटीं, उन सबमें मैंने उसे ईशप्रिय, पवित्र और निःस्पृह पाया।

'जमाना' के अप्रैल 1909 के अंक में प्रेमचंद की लिखी हुई एक जीवनी 'जॉन ऑफ आर्क' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। इस जीवनी पर पत्रिका के अंक की अनुक्रमणिका में लेखकीय नामोल्लेख 'दाल-रे अज अम्बाला' तथा लेख के अन्त में 'दाल-रे' के रूप में प्रकाशित हुआ था। ज्ञातव्य है कि यह वह समय था जब 'सोजे वतन' से उद्भूत विभागीय प्रतिबन्धों के कारण प्रेमचंद छद्म नामों से लिखने के लिये विवश थे।

(साभार : नागरिक वर्ष-17, अंक-03, 01-15 फरवरी, 2014)

महान क्रांतिकारी वासुदेव बलवन्त फड़के

सन् 1857 के गदर के असफल हो जाने के पश्चात जिस युवक ने भारत में प्रथम अस्थायी सरकार(स्वतंत्र) बनाने की घोषणा की थी, उसका नाम था- वासुदेव बलवन्त फड़के।

वासुदेव का जन्म सन् 1845 में 4 नवम्बर को महाराष्ट्र के कोलावा जिले में एक ग्राम शिरोधा के गरीब परिवार में हुआ था।

जब बालक वासुदेव ने प्राइमरी शिक्षा समाप्त की तो इनके पिता ने अपनी गरीबी और मजबूरी के कारण इनको गांव की एक दुकान पर नौकरी करानी चाही। पर वासुदेव ने नौकरी से इंकार किया और घर से भाग निकले। इन्होंने पहले जी.आई.पी. रेलवे तथा बाद में ग्रांड मेडिकल कॉलेज और 'फाइनेंस कम यरियट' (सैनिक संगठन) में नौकरी कर ली।

महाराष्ट्र अकाल से जल रहा था। भूख से हजारों व्यक्ति जल रहे थे। रुपये का एक सेर गेहूं बिक रहा था। वासुदेव की आत्मा विद्रोह के लिए छटपटाने लगी। इन्होंने 'पूना सार्वजनिक सभा' में जो प्रथम राजनीतिक संस्था थी, जाना प्रारम्भ कर दिया। युवकों ने 'ऐक्यवर्धनी' नामक संस्था को जन्म दिया, जिसकी प्रत्येक रविवार को विष्णुजी के मंदिर में बैठक होती थी। वासुदेव इसमें भी जाने लगे।

वासुदेव गणेश जोशी ने, जो 'काका' के नाम से सम्पूर्ण पूना में विख्यात थे, खादी पहनने का प्रचार किया और वासुदेव खादी पहनने लगे। महात्मा गांधी से पचास वर्ष पूर्व खादी का यह प्रथम अभियान था। इन्होंने पूना में एक व्यायामशाला स्थापित की जिसमें हथियार चलाने की शिक्षा दी जाती थी। कहा जाता है कि लोकमान्य तिलक भी इसमें जाते थे।

वासुदेव ने अंग्रेजी साम्राज्य के विरोध में विद्रोह संगठित करने के लिए सारे देश का भ्रमण किया। वे शिक्षित लोगों के पास गये। युवकों ने वासुदेव का साथ नहीं दिया। युवक समझते थे कि जिसके राज्य में सूर्य भी न डूबता हो, कैसे सामना किया जा सकता है?

वासुदेव बलवन्त फड़के का जीवन इस मायने में बहुत महत्वपूर्ण है कि सन् 1857 के गदर के बाद क्रांतिकारियों की जो पीढ़ियां पैदा हुयी, उनमें यह प्रथम पीढ़ी के क्रांतिकारी थे। साम्राज्यवाद विरोधी अलख जगाने वाले, यह उन प्रथम क्रांतिकारियों में थे, जिन्हें शिक्षित वर्ग के बीच फैली निराशा और पस्तहिम्मती के खिलाफ भी जूझना पड़ा। जनता के बीच फैले अंधविश्वासों और विशाल अंग्रेजी साम्राज्य को हटा न पाने की पस्तहिम्मती के कारण वासुदेव के बार-बार यह समझने पर भी कि अंग्रेजों का शोषणकारी राज ही हमारी अधिकांश समस्याओं की जड़ है, लोग अपनी दयनीय जिन्दगी का कारण पूर्वजन्म के बुरे कर्मों के फल में मानते थे और साथ ही यह भी मानते थे कि दो-तिहाई दुनिया पर राज करने वाले अंग्रेजों को मार भगाने की बात ही सोचना बहुरूपियापन है। आज भी अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी जैसे विशाल साम्राज्यवादी मुल्कों और पूंजीवादी व्यवस्था की भारी मशीनरी पुलिस, फौज को देखकर लोग निराश-पस्तहिम्मत होकर ऐसे ही सोचते हैं। संगठित जनता की असीमित ताकत का उनको न तो अहसास है और न ही लुटेरों की कमजोरी का। भगतसिंह, सुखदेव, करतार सिंह सराभा जैसे बाद की पीढ़ियों के क्रांतिकारियों ने इनसे प्रेरणा पायी है।

शिक्षित युवकों से निराश होकर वासुदेव ने सोचा कि रावण और कंस जैसी ताकतों को जंगली जातियों और ग्वाल-वालों की मदद से यदि समाप्त किया जा सकता है तो वे भी जंगली जातियों को ही क्यों न संगठित करें। उन्होंने सरकारी नौकरी में लात मारकर 'टोमोशी जाति' को संगठित किया तथा इस जाति के युवकों को लेकर एक सशस्त्र सेना संगठित की।

उन्होंने देश के धनी लोगों से भारत की दासता की जंजीरें काटने के लिए धन देने की अपील की। किन्तु धनी लोग इस कार्य के लिए आगे नहीं आये। तब वासुदेव ने कई सरकारी खजाने लूटे।

उन्होंने सन् 1879 में विद्रोह का प्रथम बिगुल धामरी और तोरण के किलों पर कब्जा करके बजा दिया। इसके बाद वासुदेव की मुक्तिवाहिनी आगे बढ़ने लगी। एक रात को उसने विश्राम बाग पर, जहां अंग्रेज अधिकारी उनके पकड़ने की योजना पर विचार कर रहे थे, आक्रमण कर दिया और अंग्रेज अधिकारियों को मारा तथा भवन को आग लगा दी। यह घटना 13 मई, 1879 की है। अंग्रेज इससे इतने आतंकित हुए कि उन्होंने वासुदेव को जिन्दा या मुर्दा पकड़ने के लिए 50 हजार रुपये का इनाम घोषित कर दिया। उनकी गिरफ्तारी के पुरुस्कार के पोस्टर बम्बई नगरी की दीवारों पर लगा दिये गये। इसके ठीक दूसरे दिन सुबह बम्बई की जनता ने एक दूसरा पर्चा दीवारों पर चिपका हुआ देखा जिसमे 'रिचर्ड टेम्पल' की गर्दन काट कर लाने वाले को 75 हजार रुपये के इनाम की घोषणा की गयी। यह घोषणा वासुदेव के हस्ताक्षर से थी। इससे अंग्रेजी शासन बहुत आतंकित हो गया और उसने मेजर डेनियल के नेतृत्व में एक सैनिक टुकड़ी वासुदेव को पकड़ने के लिए गठित की।

इस टुकड़ी ने वासुदेव के दाहिने हाथ समझे जाने वाले एक साथी दावड़े को गिरफ्तार कर लिया और उसे जिन्दा जला दिया। इसके बाद वासुदेव का दूसरा साथी दौलत राव रोमोमी भी पकड़ा गया और उसे भी मार डाला गया।

साथियों की मृत्यु तथा धन के अभाव के कारण वासुदेव बहुत कमजोर पड़ गये। वे निराश होकर अपने मित्र गोघाटे के गांव में ठहरे हुए थे कि सेना को किसी प्रकार उनके छिपे होने का पता चल गया। सेना ने उस स्थान को घेर लिया परन्तु वासुदेव वहां से निकल भागे। बुखार की हालत में भागते-भागते देवरनामागी नामक ग्राम में पहुंचे और वहां छिपना चाहा। परन्तु किसी भी ग्रामवासी ने अंग्रेजों के भय के कारण उन्हें छिपने के लिए अपने घर में जगह नहीं दी। बुखार से पीड़ित और थके हुए वासुदेव ने अपने आपको एक मंदिर में ला फेंका। पीछा करती हुयी सेना भी उस मंदिर में आ धमकी और मेजर डेनियल ने बुखार से बेहोश क्रांतिकारी वासुदेव को आ दबोचा और इस प्रकार 20 जुलाई 1879 को वासुदेव अंग्रेजी सेना की पकड़ में आ गये। फिर उन पर सरकार पलटने का मुकदमा चलाया गया। उनको 31 अगस्त 1879 को सर्वप्रथम अदालत के सामने पेश किया गया।

वासुदेव की पैरवी जगत 'काका' के नाम से विख्यात वासुदेव गणेश जोशी ने की। वासुदेव ने अदालत में कहा था कि, "भारतवासी आज मृत्यु के दहाने पर खड़े हैं।" हम भारत माता के पुत्र आज घृणा की वस्तु बन चुके हैं। परतंत्रता की इस लज्जापूर्ण अवस्था से मृत्यु कई हजार गुना अच्छी है। यदि मैं अपने उद्देश्य में सफल हो सकता था। स्वतंत्र भारत का एक जनतंत्र स्थापित करना मेरे हृदय की एक आकांक्षा थी। मुझे सरकार या भगवान से कोई डर नहीं। मैं एक दिव्य कार्य कर रहा हूँ। मैंने एक परायी स्त्री को मां के रूप में देखा है और परायी सम्पत्ति को छुआ तक नहीं। यदि मैंने धन इकट्ठा किया तो उसी महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया था। अतः भगवान से मुझे कोई डर नहीं। उल्टे मैं प्रभु की उचित सहायता न मिलने के लिए वहां जाकर भगवान से झगड़ा करूंगा। मैं स्वीकार करता हूँ कि मैंने अपने भाषणों में अंग्रेजों की हत्या करने और अंग्रेजी साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट करने का उपदेश दिया है। यदि मैं अपने बलिदान तथा आत्मसमर्पण से भारत को गुलामी से थोड़ा दूर हटा सका तो मैं अपना उद्देश्य सफल समझूंगा।"

उक्त तथाकथित न्यायालय ने वासुदेव को आजीवन कारावास काला पानी की सजा सुनाई।

12 नवम्बर 1879 को पूना से ठाणे के रास्ते उन्हें अंग्रेज अंडमान जेल ले जाने वाले थे। उनके ले जाने का समाचार काफी गुप्त रख गया था। परन्तु किसी प्रकार लोगों को इस बात का पता लग गया और पूना जेल से रेलवे स्टेशन का मार्ग हजारों नागरिकों से खचाखच भर गया। उनके दर्शन करने के लिए भारतीयों के अलावा अंग्रेज भी अपनी स्त्रियों सहित रेलवे स्टेशन आये थे।

जैसे ही सेना और पंजाब की हिरासत में वासुदेव बलवन्त फड़के स्टेशन पहुंचे, अपार भीड़ की जय-जयकार से आकाश गूंज उठा। अंग्रेज महिलायें भी अपने अस्त-व्यस्त कपड़ों में उनके दर्शन के लिए भीड़ में आगे बढ़ी- उनमें से एक महिला ने ताजे फूलों का एक गुलदस्ता इस देशभक्त को भेंट किया। अंग्रेजों को यह बहुत बुरा लगा और बाद में पूछताछ हुई कि वह महिला कौन थी?

गवर्नर की कार्यकारिणी के एक सदस्य ने बताया कि वह महिला श्रीमती हीगंस थी।

"बहादुर देशभक्त का सम्मान करना मेरी नैतिक शिक्षा का मूलमंत्र है।" उनके इस उत्तर से सभी शांत हो गये। वासुदेव ने उनका उपहार स्वीकार किया और रेल में बैठ गये। गाड़ी जय-जयकारों के गगन भेदी नारों के बीच चल दी।

प्रत्येक स्टेशन पर अपार मानव समुदाय अपने इस सपूत को देखने के लिए इकट्ठा था। गाड़ी जब ठाणे रेलवे स्टेशन पहुंची तो वहां मानव समुदाय इस क्रांतिकारी की एक झलक पाने के लिए उतावला था।

अंग्रेजी शासन जनता के इस यकायक प्रदर्शन से चिंतित हो गया। उसने इनको अंडमान जेल भेजने का फैसला बदल दिया और इनको वतन से हजारों मील दूर अदन भेजने का फैसला किया गया। अदन उस समय बॉम्बे प्रेसीडेंसी का ही अंग था।

अदन की जेल में इन्हें भयंकर यातनायें दी गयीं। लोहे की गर्म सलाखों से इनको जलाया तथा उलटा लटका दिया गया। यातनाओं से पीड़ित होकर ये जेल से भाग निकले।

ये भागते-भागते 16 मील दूर पहुंचे और पकड़कर इन्हें फिर जेल में डाल दिया गया। अब तो यातनायें और भी बढ़ गयीं।

जेल की इन यातनाओं के विरुद्ध इन्होंने आमरण अनशन किया। 17 फरवरी 1883 को 1857 के बाद भारतीय जनतंत्र की अस्थायी सरकार का सेनानायक अपने रक्त अहर्षदान देकर सदैव के लिए सो गया। उनके रक्त के छींटे जो अदन की धरती पर गिरे, बाद में भारत के स्वतंत्रता संग्राम की लम्बी लड़ाई में ज्वालामुखी बनकर फूटे।

क्या हम आज नयी आर्थिक गुलामी के खिलाफ लड़ने के लिए इस बलिदानी क्रांतिकारी से कोई प्रेरणा लेंगे?

(साभार: नागरिक -वर्ष 4 अंक 17, 01-15 सितम्बर 2001)

सावित्री बाई फुले

हम वर्ष 1848 को एक क्रांतिकारी वर्ष के रूप में देखते हैं। पहला मार्क्स और एंगेल्स द्वारा लिखा गया 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' का प्रकाशन जिसने दुनिया को हिला दिया था और करोड़ों शोषित एवं दबे-कुचले लोगों को अपनी किस्मत बदलने के लिए प्रेरित किया वहीं दूसरी ओर सावित्री बाई फुले ने महाराष्ट्र के पुणे शहर में महिलाओं के लिए प्रथम विद्यालय खोलकर सामाजिक क्रांति की जिसका पुरातनपंथियों ने पुरजोर मुखालफत एवं विरोध किया।

सावित्री बाई फुले का जन्म 3 जनवरी, 1831 को महाराष्ट्र के सतारा जिले के नई गांव में हुआ था। वह स्वस्थ व सुंदर थीं। उनका विवाह ज्योतिबा फुले के साथ 9 वर्ष की आयु में हुआ था। ज्योतिबा फुले का अपमान उच्च जाति के लोगों ने वैवाहिक रस्मों के दौरान किया। इस बात से वह इतने विचलित हुए कि उन्होंने उच्च जाति प्रधान समाज के विरुद्ध और निचले तबके के लोगों को उनके सम्मान की सुरक्षा हेतु विद्रोह करने का निश्चय किया। वह हर तरह के भेदभाव के विरुद्ध लड़े। उनके अनुसार किसी भी व्यक्ति के विकास के लिए शिक्षा की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। उन्होंने कई हिंदू ग्रंथों का गहराई से अध्ययन किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सभी मानव जन्म से समान होते हैं और असमानता मनुष्यों द्वारा पैदा की गयी है। वह मानते थे कि उच्च जातीय पुरातनपंथी धारणाएं असमानता को पैदा करती हैं। उच्च जाति के लोगों ने सभी तरह की शिक्षा पर अपना वर्चस्व बना लिया और दूसरी जाति के लोगों को उनसे वंचित रखा। गरीबी, अज्ञानता और शिक्षा के अभाव ने बड़े पैमाने पर असमानता को जन्म दिया।

ज्योतिबा विधवाओं एवं अन्य औरतों की पुरुषों द्वारा की जा रही दुर्दशा को बर्दाश्त नहीं कर सके। अज्ञानता और निरक्षरता ही उनके अज्ञान का मूल कारण था। इसलिए उन्होंने महिलाओं को पढ़ाने का निश्चय किया जिन्हें अज्ञानता के अंधेरे में रखा गया था।

अगर हम उस समय की महिलाओं और अछूतों की दशा को समझ सके तो हम उनके योगदान का अहसास कर पायेंगे। वह इतिहास का वह अंधकार काल था जिसमें पेशवाओं जिन्होंने पुणे पर शासन किया था, की छाप समाज के ऊपर स्पष्ट रूप से दिखती थी। महिलाओं को महज पुरुषों के मनोरंजन की वस्तु समझा जाता था। अछूतों को अवमानना की दृष्टि से देखा जाता था। दलितों को सुबह और शाम गलियों से गुजरना इसलिए निषेध था ताकि उनकी लंबी छाया से उच्च जाति के लोग दूषित न हो जायें। उनकी अपनी कमर से पेड़ की लंबी टहनी बांधनी होती थी ताकि जिस रास्ते से वह गुजरे उस पर झाड़ू लगती रहे। उनको अपने गले से एक थूकदान बांधना पड़ता था ताकि उनके थूक से गली गंदी न हो जाए। उन्हें अपने साथ एक घंटी रखनी पड़ती थी ताकि उच्च जाति का व्यक्ति उस रास्ते से गुजर रहा हो तो घंटी की आवाज सुनकर वह पहले ही अपना रास्ता बदल ले। अछूतों को पवित्र मंत्रों का उच्चारण सुनने की अनुमति नहीं थी।

ज्योतिबा ने समाज में व्याप्त अज्ञानता से लड़ने का फैसला किया। उन्होंने महिलाओं को शिक्षित करने का निर्णय लिया। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें सहयोगी के रूप में महिला शिक्षकों की आवश्यकता थी। इसलिए उन्होंने सबसे पहले अपनी पत्नी को पढ़ाने और शिक्षिका के रूप में प्रशिक्षित करने का फैसला लिया। ज्योतिबा प्रतिदिन खेतों पर काम करने जाते थे। दोपहर में उनकी पत्नी उनके लिए खाना लेकर आती थी। वह इस मौके को अपने काम से फुर्सत पाकर उन्हें पढ़ाने में इस्तेमाल करते थे। धीरे-धीरे अपनी पत्नी को पढ़ाने की यह खबर उनके पिता तक पहुंच गयी। दकियानूसी तत्वों से डरकर उनके पिता ने उन्हें घर से निकालने की धमकी दी।

सावित्री बाई के पास या तो पति के साथ जाने का या अपने ससुराल वालों के पास रहने का रास्ता था। उन्होंने अपने पति के साथ होने को प्राथमिकता दी।

ज्योतिबा ने उन्हें पढ़ाना जारी रखा। उन्हें एक प्रशिक्षण विद्यालय में भेजा गया जहां से वह अच्छे परिणाम के साथ एक मुस्लिम महिला फातिमा शेख के साथ पास हुईं। जब सावित्री बाई फुले ने अपनी शिक्षा पूरी कर ली तो पति के साथ 1848 में पुणे में लड़कियों के स्कूल की शुरुआत की। 9 छात्राओं ने जिन्होंने उस स्कूल में दाखिला लिया वह विभिन्न जातियों से थीं। प्रतिदिन घर छोड़ना और स्कूल जाना सावित्री बाई के लिए जी का जंजाल बन गया। दकियानूसी समाज उनके इस 'कारनामे' के लिए तैयार नहीं था। महिलाओं की शिक्षा को हेय दृष्टि से देखा जाता था। यह माना जाता था कि अगर महिलाओं ने लिखना शुरू कर दिया तो सभी को चिट्ठियां लिखेंगी और गजब हो जाएगा। उन्होंने दावा किया कि जब वह अपने पति के लिए खाना बनाएंगी तो वह खाना कीड़ों में बदल जायेगा और वह आकस्मिक मृत्यु को प्राप्त होगा।

विरोधों का सामना किए बिना इस पुरुष प्रधान समाज में महिलाओं का कुछ भी पाना एक चुनौती ही रहा है। ऐसा कहा जाता है कि जब सावित्री बाई अपने घर से निकलती थी तो पुरातनपंथी पुरुषों का झुंड उनका पीछा करता था। वे भद्दी भाषा का इस्तेमाल करते थे। वे उन पर सड़े हुए अंडे, टमाटर, गोबर व पत्थर फेंकते थे। वह सकुचाती हुई वहां से गुजरती और स्कूल पहुंचती थीं। इस तरह के व्यवहार से तंग आकर उन्होंने स्कूल छोड़ देने का फैसला किया परन्तु अपने पति की वजह से वह अपनी कोशिशें करती रहीं। ज्योतिबा ने अपनी पत्नी को दो साड़ियां दीं। उन्होंने कहा कि एक साड़ी वह स्कूल जाते समय पहने, समाज द्वारा जो गंदगी फेंकी जाती है उसी पर लगेगी। दूसरी साड़ी वह कक्षाएं शुरू होने से पहले बदलती थीं। घर वापिस लौटते समय वह फिर पहली साड़ी पहनती थीं। ऐसा बहुत समय तक चलता रहा, तब तक जब तक कि सावित्री बाई ने उन्हें तंग करने वाले आदमी को एक तमाचा न जड़ दिया। इस तमाचे ने उनकी दो साड़ियों वाली दिनचर्या को तोड़ दिया और उन्होंने पढ़ाना जारी रखा। धीरे-धीरे धैर्य के साथ उन्होंने अपने आप को स्थापित किया। उन्होंने कई शिक्षण स्कूल भी खोले। विश्रामबाग वाड़ा में किए गए कार्यों के लिए ब्रिटिश सरकार ने उन्हें सम्मानित किया और शॉल भेंट की।

सावित्री बाई ने न सिर्फ शिक्षा के क्षेत्र में बल्कि उन सभी सामाजिक संघर्षों में जो ज्योतिबा द्वारा शुरू किये गये थे, में उनका साथ दिया। एक बार ज्योतिबा ने एक महिला को नदी की ओर जाते हुए देखा। उन्हें शक था कि यह महिला अपना जीवन समाप्त करने जा रही है। इसलिए उन्होंने उसका पीछा किया।

जैसे ही वह महिला नदी में पहुंची ज्योतिबा ने उन्हें पकड़ लिया और वापिस घर लौटने के लिए मनाने लगे। उन्होंने उसे भरोसा दिया कि जो शिशु उसके गर्भ में है वे उसे पिता का नाम देंगे। बहुत मनाने के बाद ही उस महिला को विश्वास में लिया जा सका। उसे घर लाया गया। सावित्री ने भी उसकी मदद करने का भरोसा दिया। उस महिला का जो पुत्र हुआ उसे सावित्री व ज्योतिबा द्वारा अपनाया गया। उसका नाम उन्होंने 'यशवंत' रखा जो डॉक्टर बना और बाद में फुले की चिता को अग्नि दी।

इस घटना ने फुले दम्पति के लिए नए क्षितिज खोल दिये थे। वे हिंदू समाज में विधवाओं की दुर्दशा के बारे में सोचने लगे। पुरुष अपनी काम-पिपासा शांत करने के लिए महिलाओं का शोषण करते थे और फिर इन्हें अपनी जीवन लीला समाप्त करने के लिए मजबूर होना पड़ता था। इसलिए सावित्री और ज्योतिबा ने ऐसी महिलाओं के लिए जिन पर जोर जबरदस्ती कर गर्भावस्था को थोप दिया जाता था, गलियों में 'डिलीवरी होम' के बड़े-बड़े बोर्ड लगाए। ये 'डिलीवरी होम' बालहत्या प्रतिबंधक गृह कहलाए।

उनका अगला कदम भी क्रांतिकारी समान था। उन दिनों बूढ़े आदमियों का छोटी उम्र की लड़कियों के साथ विवाह करने का चलन था। वृद्ध आदमी तो अपनी बढ़ती आयु व बीमारी की वजह से मृत्यु को प्राप्त हो जाता और अपने पीछे छोटी उम्र की लड़की को विधवा छोड़ जाता। विधवाओं के सुंदर दिखने व सौंदर्य प्रसाधनों के इस्तेमाल की इजाजत नहीं थी। उन्हें अपना सिर मुंडवाना पड़ता और समाज द्वारा उन्हें जिंदगी के सामान्य सुखों से वंचित सादा जीवन जीने के लिए विवश किया जाता। सावित्री और ज्योतिबा ने विधवाओं की दुर्दशा की ओर रुख किया और उन्होंने नार्सियों की हड़ताल आयोजित की और उन्हें विधवाओं के सिर के बाल न मुंडने के लिए तैयार किया गया। यह अपनी तरह की पहली हड़ताल थी।

ज्योतिबा व सावित्री ने सभी तरह की सामाजिक रूढ़ियों व भेदभाव के खिलाफ संघर्ष किया। वे दलितों को देखकर विचलित हो गए जिन्हें उच्च जाति के लिए बने जलाशयों से पीने का पानी लेने से मना कर दिया जाता था। ज्योतिबा और सावित्री बाई ने अपने लिए बनाए गए जलाशयों को दलितों के लिए खोल दिया।

उन्होंने व्यवहार में वही किया जिसकी वह शिक्षा देते थे। सावित्री बाई द्वारा अपने भाई को लिखा गया पत्र मौजूद है जिसमें उन्होंने अपने भाई की आलोचना का जवाब दिया है जो उनके पति को दलितों व अन्य नीची जाति के लोगों के साथ मेल-जोल को बुरा मानता था उन्होंने जवाब दिया "मुझे अपने पति के कार्यों पर गर्व है। तुम्हारी हिम्मत कैसे हुई उनकी आलोचना करने की। तुम कुत्ते और बिल्लियों को गोद में लेते हो और मनुष्यों को छूने से दूषित हो जाते हो। मेरे पति सचमुच में महान हैं क्योंकि वे सभी मनुष्यों के साथ समान व्यवहार करते हैं"।

सावित्री बाई उन सब गतिविधियों में भाग लेती थीं जिनमें उनके पति जुटे रहते थे। वह उनके साथ तकलीफें झेलती थीं परन्तु उनका अपना एक अलग व्यक्तित्व था। ज्योतिबा एक महान व्यक्ति थे जिन चीजों का उन्होंने प्रचार और व्यवहार किया वह सभी के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। वह दूरदर्शी थे और उन्होंने दबे-कुचलों के उत्थान के लिए जी-तोड़ मेहनत की। 1890 में ज्योतिबा फुले का देहांत हो गया।

उनकी मृत्यु के बाद सावित्रीबाई ने सत्य शोधक समाज की जिम्मेदारी निभाई जिसकी स्थापना ज्योतिबा फुले ने की थी। वह अपनी जिम्मेदारियों पर खरी उत्तरीं। वह सभाओं की अध्यक्षता करती थीं और कार्यकर्ताओं का मार्गदर्शन करतीं। उन्होंने लगातार प्लेग-पीड़ितों के लिए काम किया। उन्होंने गरीब बच्चों के लिए कैंपों का आयोजन किया। ऐसा कहा जाता है कि वह महामारी के समय प्रतिदिन 2 हजार बच्चों को खाना खिलाती थीं। वह बीमार बच्चों की सेवा-सुश्रुषा में लगी थीं तो इसे एक विचित्र कहेंगे कि वह खुद बीमारी की शिकार हो गयीं और 10 मार्च 1897 को उनकी मृत्यु हो गयी।

सावित्री बाई की कविताएं और लेखनी दूसरों के लिए प्रेरणास्त्रोत हैं। पं. रामाबाई के जन्म से 10 साल पहले यह महिला जो माली जैसी पिछड़ी जाति में पैदा हुई, ने अपने आपको सबसे क्रांतिकारी तरीके से अभिव्यक्त किया। वह पहली महिला शिक्षक थीं, पहली शिक्षाविद थीं, पहली कवियित्री थीं एवं उन सबसे बड़ी महिला मुक्ति की अग्रणी थीं। उनकी कविताओं की दो किताबें प्रकाशित हुई हैं। 1934 में 'काव्य फूल' एवं 1982 में 'बावन काशी सुबोध रत्नाकर'।

अगर सावित्री बाई उन कठिन परीक्षाओं से नहीं गुजरतीं तो आज भारत की महिलाएं वह स्थान नहीं प्राप्त कर सकती थीं जो आज उन्हें समाज में प्राप्त है।

(प्रमिला दंडवते द्वारा लिखे गये लेख सावित्री बाई फुले का हिंदी अनुवाद)

(साभार: नागरिक वर्ष 12 अंक 5, 1-15 मार्च 2009)

ब्रेख्ट : हमारा अपना कलाकार

-अंशु मालवीय

कार्ल मार्क्स की 'पूँजी' पढ़ने के बाद ही
मैंने अपने नाटकों को समझना शुरू किया -ब्रेख्ट(1926)

दुनिया की कला-संस्कृति के इतिहास ने संभवतः इसके पहले एक ऐसा वाक्य नहीं सुना था जिसमें कलाकार खुद अपनी कला को समझने के लिए किसी दूसरे की मदद लेता है यह कला का वह द्वंद्ववाद था जिसे चोरी छुपे इस्तेमाल तो हर कलाकार ने किया था लेकिन ब्रेख्ट के पहले इस वैज्ञानिक प्रक्रिया को इतने साधारण और विशिष्ट तरीके से स्वीकार नहीं किया गया था।

कला में 'थर्ड परसन' की उपस्थिति के सवाल को लेकर कला के ज्ञात इतिहास में प्रारंभ से ही एक बहस छिड़ी हुई है। इस तरह कला के दर्शन में भौतिकवाद की उपस्थिति का यह सबसे लाक्षणिक बिन्दु है। कला और कलाकार के साम्राज्य में एक और उपस्थिति है जो मुखर होती है तो भौतिकवाद के पैर मजबूत होते हैं और जैसे ही उसकी उपस्थिति खामोश होती है कलाकार के रहस्यमय संसार की सृष्टि होती है, जिसमें सृष्टि और समाज के अनिवार्य नियम द्वन्द्व की उपेक्षा की जाती है। कला व कलाकार को द्वन्द्व के दो पहलू समझकर इसे सम्पूर्ण समझ लिया जाता है। जबकि रचना से सम्प्रेषण तक के सफर में रचना और रचनाकार एक पहलू होते हैं और यह तीसरा आदमी दूसरा पहलू। (निश्चित रूप से कला और कलाकार के बीच भी द्वन्द्व रहता है लेकिन यह गौण है)। यह 'तीसरा आदमी' समाज है, पाठक-दर्शक-श्रोता है, ग्रहणकर्ता है, ग्राहक है जिसके दिमाग की पूर्वापेक्षा बाकायदा रचना में सक्रिय हस्तक्षेप करती है। रचना संसार में इसी 'आदमी' की सक्रिय और दार्शनिक स्थापना ही ब्रेख्ट का जीवन संघर्ष रहा।

प्राचीन काव्य शास्त्र में या भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में भी 'भावक' की उपस्थिति दर्ज होती रही है। यह उपस्थिति 'निन्दक नियरे रखिये' के अतिक्रमण तक भी पहुंची। और कला के दायरे में बार-बार अपने को सिद्ध करने की जिद के साथ यह आदमी चेखव के उत्कटित पाठक के आत्मविश्वास के साथ लेखक की राह रोक लेता है और पूछता है 'आप किसके लिए लिखते हैं?' परन्तु कला प्रक्रिया की सम्पूर्णता के लिए उसके द्वन्द्व के एक पहलू के रूप में जन की उपस्थिति को स्थापित कर कलावाद को निर्णायक मात देने का काम जिस तरह से ब्रेख्ट ने किया वह सचमुच महान है।

और कला में यह तीसरा आदमी किसलिए? ताकि वह खुद अपने लिए जारी एक महान संघर्ष के महाकाव्यात्मक आन्दोलन में 'खुल्लमखुल्ला अपनी जगह ले सके।' ताकि दारुण गरीबी, असहनीय भुखमरी, नृशंस असमानता और संक्रामक शोषण से भरी हुई इस दुनिया में मानव मुक्ति के लिए चल रही अविरल मुठभेड़ में कला की जुझारू भूमिका को स्थापित किया जा सके। क्योंकि ब्रेख्ट मानते थे कि कला अपने हर रूप में उस महान उद्देश्य की सेवा करती है जिसे 'जीवन की कला' कहते हैं। पूरी दुनिया में समानता के लिए जारी लड़ाई का अनिवार्य हिस्सा बनते हुए, फासीवाद के खिलाफ प्रचार करते हुए और इस बीच कला की वल्गाएं जन के आश्वस्तदायक हाथों में सौंपे जाने की मुहिम के बीच ही ब्रेख्ट की रचनाएं लिखी गईं, रचना का दर्शन गढ़ा गया। इस तरह नाटककार, निर्देशक, अभिनेता, कवि, चिंतक और राजनीतिक कार्यकर्ता ब्रेख्ट उस निर्णय तक पहुंचे जहां उनके जैसे एक आदमी को पहुंचना चाहिए। **'दुनिया को बदल दो क्योंकि इसे बदले जाने की जरूरत है।'**

जाने क्यों **ब्रेख्ट का स्मरण आते ही एक संदर्भ पुस्तक, एक टूल बॉक्स और एक दोस्त एक साथ घुलमिल कर सामने आ जाते हैं।** वर्तमान पूंजीवादी संसदीय लोकतंत्र, साम्राज्यवाद, चुनाव और राज्य सत्ता, बाजार, जनता और क्रांति, युद्ध, सेना और पार्टी, शोषण, अन्याय और जनसंघर्ष, पूंजी, किसान और मजदूर और...और.....और.....यानी वर्तमान विश्व को व्याख्यायित करने के कितने सारे संदर्भ और इन सबको स्पर्श करती हुई, इनमें धंसती हुई रचनाशीलता। मानव समाज की ऐतिहासिक प्रक्रिया से जोड़ते हुए आधुनिक विश्व की संवलिता जटिलताओं की सापेक्ष अभिव्यक्ति ब्रेख्ट की खासियत है। जो न केवल व्याख्या करने बल्कि बदलने की चेतना से लैस है। वे सही मायने में अंतर्राष्ट्रीय रचनाकार है। उनकी रचनाएं 'पूँजी' की तरह हैं जो इंग्लैंड की ठोस परिस्थिति में पूंजीवाद का अध्ययन करते हुए भी पूरे समाज के इतिहास और भविष्य की व्याख्या करने में सफल होती है। कार्ल मार्क्स कवि-नाटककार होते तो संभवतः ब्रेख्ट जैसे ही होते। इस मायने में ब्रेख्ट की रचनाएं आज भी जितनी समकालीन हैं वह अप्रतिम है। **पर्चे-पोस्टर से लेकर साहित्य की गंभीर बहसों, नारों से लेकर सिद्धान्तों तक ब्रेख्ट की पहुंच है और ठीक इसलिए वे हर उस जगह और हर उस व्यक्ति के लिए बहुत उपयोगी हैं, बहुत काम के कलाकार हैं जहां मानव को मानव का दर्जा दिलाने का प्रयत्न चल रहा है और जो लोग इन अपराजित प्रयत्नों की मशाल थामें हैं।**

जब ब्रेख्ट जैसे किसी रचनाकार के जन्म की बात होती है तो इच्छा होती है कि उसे इस तरह से बताया जाये कि पेरिस कम्यून के मजदूरों की शौर्यगाथा के ठीक सत्ताइस साल बाद और बोल्शेविकों के अदम्य और इतिहास बनाने वाले पराक्रमों के ठीक उन्नीस वर्ष पहले यानी 1898 में जर्मनी के आग्सबर्ग नामक स्थान पर उनका जन्म हुआ। यानी उनका बचपन विश्वयुद्ध और क्रांति के साये में बीता। यह मानव समाज की दिशा बदल देने वाले साल थे। विश्व युद्ध और जर्मनी के मजदूर किसानों के निर्मम शोषण के विरोध की चेतना ने ही उनके रचनाकार को गढ़ा था।

ब्रेख्ट स्वयं एक खाते-पीते घर में पैदा हुए थे और उच्च वर्ग के लिए बनाये गये एक स्कूल में उन्होंने शिक्षा भी प्राप्त की। जैसा कि वे खुद अपनी कविता में कहते हैं **'मुझे आदेश देने की कला सिखायी जाती थी।'** लेकिन अक्सर ही समाज की जटिल परिस्थितियां शिक्षा संस्थानों की लोहे की दीवार को भेद कर बच्चों के मानस निर्माण का काम अपने जिम्मे ले लेती हैं। अंधराष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद और परिणामस्वरूप प्रथम विश्वयुद्ध की तैयारी में बदलते दिमाग और आतंकित होती जनता की मानसिकता ने किशोर ब्रेख्ट की चिंतन प्रक्रिया को शुरू किया अपनी एक चिट्ठी में ब्रेख्ट ने लिखा है कि उन्हें पहले चार साल तक एक प्राथमिक स्कूल में डाल दिया गया, फिर नौ साल के लिए उन्हें एक दूसरे स्कूल में कैद कर दिया गया। लेकिन वे शिक्षकों को खुश करने की चापलूसी और जीवन से कटी हुई उबाऊ शिक्षा हासिल करने की संज्ञाशून्य कार्रवाई से कोई दिमागी तालमेल नहीं बिठा सके। और जब 1915 यानी विश्व युद्ध के पहले साल में वह अनिवार्य सैनिक भर्ती से बाल-बाल बचे तो युद्ध और राष्ट्रवाद पर उन्होंने सोचना शुरू किया। **हैरेस** की कविता के विरोध में तर्क

सिर उठाने लगे। जिसमें वह कहता है 'अपनी पितृभक्ति के लिए जान निछावर कर देना कितना मधुर और गौरवपूर्ण है।' संभवतः उन प्रगतिशील ताकतों की तरह जिनका नेतृत्व लेनिन कर रहे थे, ब्रेख्ट ने भी अपने तरीके और किशोर वय के कच्चेपन के साथ ही मगर समझना शुरू कर दिया था कि यह विश्व युद्ध देशभक्ति पूर्ण युद्ध नहीं बल्कि बाजार की लिप्सा से शासकों की प्रतिद्वंद्विता है और जिसका खामियाजा आम जनता को भुगतना होगा। उन्होंने कविता लिखी- **'जिन्दगी को अलविदा कहना बहुत कठिन है/चाहे वह फिर बिस्तर से हो या रणभूमि से/और युवावस्था के बसंत में तो यह और भी कठिन है'** ब्रेख्ट ने युद्ध के पागलपन और उन्माद के बीच विवेक को पुनर्जीवित करने का संकल्प ले लिया।

यह चिंतन प्रक्रिया रचनाओं में ढलने लगी। 1918 में ब्रेख्ट ने बहुचर्चित कविता लिखी। इसी साल उन्होंने अपना पहला नाटक लिखा 'बाल'। 'बाल' बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का एक आदमी है। बदलते हुए युग के संक्रमणकाल में इस 'सापेक्ष और निष्क्रिय बुद्ध' के मानसिक परिवर्तन का लेखा-जोखा बाल का कथ्य है। इसके तुरन्त बाद उन्होंने सिर्फ एक नाटक **'ड्रम्स इन द नाइट'** ही लिखा था जब उन्हें जर्मनी का सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान मिला। इस नाटक का महत्व पुरस्कार पाने में नहीं वरन् इस बात में है कि इसी के साथ ब्रेख्ट ने खुद को वर्ग विश्लेषण और **आत्मालोचना** की उस खराद पर चढ़ा दिया जहां उन्होंने अपनी रचनाओं के साथ भी कभी पक्षपात नहीं किया। उनके विश्लेषण में दर्शक एक सक्रिय अभिनेता बन चुका था और उन्हें उसकी प्रतिक्रिया की गंभीरता से परवाह थी। वे तालियों की गूंज का भी अर्थ समझना चाहते थे।

ब्रेख्ट ने स्वयं लिखा है- 'ड्रम्स इन द नाइट' उस जर्मन सिपाही की मनोदशा का वर्णन है जिसे कि युद्ध से लौटने के बाद बहुत प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। उसका जीवन संघर्ष उसे क्रांतिकारी आंदोलनों के निकट लाता गया। लेकिन जब युद्ध के बाद कुछ समय बीतने पर जीवन की परिस्थितियां कुछ सुधरीं तो उसने क्रांतिकारियों का साथ छोड़कर जीवन से समझौता कर लिया। मैंने लोगों की मनोदशा का वर्णन किया था और उन्हें उद्धृत भी किया था। निश्चित रूप से यह एक यथार्थ भी था कि किस तरह सहूलियतें आदमी को समझौता परस्त बना देती हैं। लेकिन यह पूरा सत्य नहीं था। क्योंकि यह समझौता परस्त मानसिकता बहुत कुछ तो हो सकती है लेकिन सब कुछ नहीं। समाज में परिवर्तनकामी शक्तियों की उपस्थिति को पूरी तरह नकारने की इसकी औकात नहीं। जाहिर है प्रतिगामी बुर्जुआ वर्ग को अपने काम का मसाला मिल गया। क्रांतिकारियों का साथ छोड़ते हुए सिपाही को उन लोगों ने क्रांति की नियति मान उसे हाथों हाथ लिया। ब्रेख्ट अपने नाटक पर जर्मन बुर्जुआ की प्रतिक्रिया देखकर सन्न रह गये - 'मैंने महसूस किया कि नाटक की सफलता के बाद वे लोग मुझसे हाथ मिलाने के लिए उतावले हो रहे थे जिनका सिर मेरे निशाने पर था।' ब्रेख्ट ने अपने प्रयोग में इस बात को महसूस कर लिया था कि यथार्थवाद अपने आप में पूर्ण नहीं बल्कि जड़ है अगर उसे उसकी गति और दिशा के संदर्भ में परिभाषित नहीं किया जाता। इस समय वे आगसबर्ग, म्यूनख और बर्लिन के बीच झूलते हुए नाटक और फिल्मों में स्थाई जगह बनाने का प्रयत्न करते रहे।

ब्रेख्ट की आत्मालोचना की पद्धति नोकीली से नोकीली होती गयी। इसके बाद उनके लिखे नाटक 'दि लाइफ ऑफ किंग एडवर्ड', 'मैन इक्वल मैन' भी उनकी अपनी कसौटी से बच नहीं सके। बाद में 1954 में अपने इन नाटकों पर दृष्टिपात करते हुए उन्होंने लिखा था- 'अपने शुरूआती नाटकों की ओर लौटना क्यों जरूरी है। क्यों न उससे एकदम से रिश्ता तोड़ दिया जाये? क्यों न आज की बात की जाय? लेकिन फिर मुझे लगता है कि जो कोई भी आगे की ओर एक लंबी छलांग लगाता है, उसे पहले अपने अतीत की ओर झांकना चाहिए। हमें वही आज एक सही कल की ओर ले जा सकता है जो बीते हुए कल की समझदारी में पोसा गया हो।

ब्रेख्ट ने अपना अगला नाटक 1927 में लिखा 'डिवोशन फॉर दि होम'। उनके नाटक ही नहीं बल्कि गीतों की भी प्रस्तुतियां होने लगीं। वे न केवल गीत लिखते थे बल्कि उसे संगीतबद्ध कर गाते भी थे। और ब्रेख्ट का 'क्वालिटी कंट्रोल टेस्ट' यहां भी जारी रहा। अपने प्रसिद्ध निबंध **'ऑन राइमलेस लिरिक विद इरेगुलर रिद्मस'** (1939) में उन्होंने लिखा- मेरे उन गीतों को पढ़ते वक्त आपको यह ध्यान रखना पड़ेगा कि वह कौन सा वक्त था जब मैं लिख रहा था। विश्व युद्ध समाप्त हो चुका था और वे परिस्थितियां कायम थीं जिन्होंने उस युद्ध को जन्म दिया था। मेरी राजनीतिक समझदारी उस वक्त काफ़ी कमजोर थी। मैं उन परिस्थितियों को समझ तो रहा था जिन्होंने जनता को बेहाल कर रखा था लेकिन उनसे लड़ने को अपना कर्तव्य नहीं मानता था।'

और इस तथाकथित **'कमजोर राजनीतिक समझदारी'** से उबरना किस तरह हुआ? इसे उन्होंने 1935 में लिखा। ब्रेख्ट अपने एक नाटक पर काम कर रहे थे जो कभी पूरा नहीं हुआ। इस नाटक की पृष्ठभूमि 'शिकागो व्हीट एक्सचेंज' की घटना थी। पहले तो उन्हें इस के बारे में कोई खास सामग्री हाथ नहीं लगी। कुछ सामग्री मिलने के बाद भी वे इस बात को ठीक तरह से समझ नहीं सके कि वस्तुतः हुआ क्या था, उस घटना के निहितार्थ क्या थे? कोई इन्हें समझा भी नहीं सका। इस वक्त काल मार्क्स की किताबों ने उनके पथ प्रदर्शक दोस्त की भूमिका निभाई। उन्होंने लिखा कि 'पहली बार मेरे अपने बिखरे हुए अनुभव और अनुभूतियों ने एक ठोस जीवन ग्रहण किया। जब मैंने 'पूँजी का अध्ययन शुरू किया तो मुझमें चीजों को समझने का सही नजरिया विकसित होने लगा। ये 1926 के आस-पास का समय था। इसके साथ ही ब्रेख्ट ने नाटक और दर्शन के क्षेत्र में एक लम्बी छलांग लगाई। उन्होंने 1928 में अपने नाटक **'थ्री पेनी ओपेरा'** का मंचन किया। अपने **एपिक थियेटर** और उसमें दर्शकों की भूमिका पर ब्रेख्ट ने नये सिरे से सोचना शुरू किया और यह दर्शन क्रमशः कला जगत की मूल समझदारी का प्रस्थान बिन्दु बनता गया। ब्रेख्ट ने अपने एक लेख में लिखा- **'वह व्यक्ति जो दर्शकों की भीड़ का हिस्सा है वह नाटकों का ग्राहक ही नहीं बल्कि उत्पादक भी है बिना उसके सहयोग के कोई भी प्रस्तुति अधूरी ही रहेगी।'** ब्रेख्ट ने 1929 में हेलेन व्हीगल से विवाह किया। वे बहुत शानदार अभिनेत्री थीं। उनके साथ ने ब्रेख्ट की रचनात्मकता को संवारने का काम शुरू किया। वे सही मायने में दोस्त थे। ब्रेख्ट को 'मां' के भविष्य में होने वाले कालजयी प्रदर्शनों के लिए 'पेलेग्या ब्लासोवा' मिल गयी।

लेकिन ब्रेख्ट फिर से एक उलझन में पड़ गये। उनके इस प्रयोग को भी कुलीन दर्शकों की तालियों ने बेसुरा कर दिया। जब मैं किसी आदमी को मजदूरी पर रखे जाने की उसकी हत्या किये जाने से तुलना करता हूँ तो मेरा धनाढ्य दर्शक इसे कोई मजेदार चुटकुला समझता है। इस स्थिति से उबरने के क्रम में उन्होंने **'दि राइज एंड फॉल ऑफ दि सिटी ऑफ माहागोनी'** लिखा। यह नाटक इपिक आपेरा का एक उदाहरण था। इस नाटक की आलोचना भी हुई। आलोचकों ने कहा 'लग रहा था कि पूरे विश्व की सर्वहारा सेना मार्च करती हुयी बड़ी आ रही है।' लेकिन ब्रेख्ट इस मामले में खुद भी सतर्क थे। यह नाटक अक्टूबर 1929 में स्टॉक मार्केट की तबाही के बाद लिखा गया था। और पूँजीवाद की अन्तर्निहित कमजोरियां उजागर हो चुकी थीं। यह नाटक उनके अनुभवों के सार संकलन से पैदा हुआ था। उन्होंने इस नाटक पर लिखे अपने एक नोट में लिखा। 'नाटक को कुलीन तबके से उबरने के लिए उद्देश्य परकता और शिक्षात्मकता पर अधिक जोर दिया गया है ताकि नाटक मात्र मनोरंजन के साधन से बदलकर जनता की शिक्षा का एक हथियार बन जाये।' और यह आश्चर्य नहीं था कि अगले विश्वयुद्ध की तैयारी कर रहे जर्मनी में उनके अगले नाटक 'सेंट जॉन ऑफ स्टॉकयार्ड' को मंच नसीब नहीं हुआ। यह नाटक वर्ग संघर्ष की पृष्ठभूमि पर लिखा गया था। जिसमें जोहाना अपनी जन-प्रतिबद्धता के चलते चर्च से निकाल दी जाती है और वह जाकर जनता के संघर्ष में शामिल हो जाती है। सुधारवाद से उसका मोहभंग हो चुका था। ब्रेख्ट ने इन उद्देश्यपरक नाटकों की व्याख्या करते हुए बताया कि 'इन नाटकों का मुख्य उद्देश्य दर्शकों की भावना नहीं बल्कि उनके तर्क को जगाना है। साथ ही ऐसा भी नहीं है कि वहां भावना नदारद है। ऐसा करना ठीक उसी तरह होगा जैसे कि आधुनिक विज्ञान को भावना से अलग कर दिया जाय।' इसके बाद ब्रेख्ट ने 'उद्देश्यपरक/शिक्षात्मक नाटकों का सिद्धान्त- नामक लेख और अपना कालजयी नाटक

‘मां’ लिखा। यह नाटक गोर्की के उपन्यास पर आधारित है। इसे सारे बड़े सर्वहारा संगठनों ने मंचित किया। केवल बर्लिन में ही इसे पंद्रह हजार से अधिक महिलाओं ने देखा। जबकि इसकी हर प्रस्तुति पुलिस उत्पीड़न का शिकार हो रही थी। बर्लिन फासीवाद की गिरफ्त में जकड़ता जा रहा था और जर्मन बुर्जुआ को ब्रेख्ट के संवाद और गीत सपनों में डराने लगे थे। उनके नाटक के आरकेस्ट्रा की गूंज उसकी नींद उड़ा रही थी।

ब्रेख्ट के रूप में हमें सही मायने में एक अंतर्राष्ट्रीय रचनाकार दिखता है। उन्होंने अपने रचना संसार का निर्माण करने में भिन्न-भिन्न संस्कृतियों से अंतर्क्रिया के द्वारा पैदा हुए अंगों-उपांगों का इस्तेमाल किया। ब्रेख्ट अपने उद्देश्यपरक/शिक्षात्मक नाटकों की नयी परंपरा की जिस तरह स्थापना कर रहे थे उसके लिए उन्हें नये ढांचों की भी जरूरत पड़ी और ब्रेख्ट का अन्वेषी दिमाग ‘नोह’- नाम के जापानी नाटकों की ओर गया। उसी की प्रेरणा से ब्रेख्ट ने अपनी अलग नाटक शैली विकसित की। इस शैली पर उन्होंने ‘**ही हू सेज यस**’ (1930) और उसी की श्रंखला में ‘**ही हू सेज नो**’ (1931) नाटकों की रचना की। इसके बाद उद्देश्यपरक नाटकों में मील के पत्थर की तरह उन्होंने ‘**दि मेजर टेकेन**’, की रचना की। इस नाटक में उनके मित्र **हैन्स एसलर** ने उनके प्रसिद्ध गीत ‘**पार्टी की शान में**’ को संगीतबद्ध किया।

इन नाटकों के साथ कविताएं गीत और लेख लिखते हुए ब्रेख्ट ने लगातार रचना के दर्शन को विकसित करने का काम भी किया। उन्होंने बताया कि उद्देश्यपरक नाटकों का उद्देश्य केवल दार्शनिकों तक एक निश्चित संदेश पहुंचाना और उनसे संवाद करना ही नहीं बल्कि यह उन पर भी काम कर रहा होता है जो इसे अभिनीत करते हैं। यहां आकर हम ब्रेख्ट के सिद्धान्त में उस द्वन्द्वात्मकता की छाप पाते हैं जो रचना और रचनाकार के बीच काम करती है। जैसे-जैसे रचना की सामाजिक भूमिका की चर्चा होती है, प्रश्न यह उठता है कि जिस रचना के सामाजिक प्रभाव के बारे में रचनाकार चिंतन कर रहा है वह रचना स्वयं उस रचनाकार को कितना प्रभावित करती है या बदलती है। इसी संदर्भ में ब्रेख्ट ने उद्देश्य परक नाटकों के द्वन्द्वात्मक प्रभाव का इस्तेमाल किया। उन्होंने बताया कि किस तरह नाटकों का कथ्य स्वयं नाटक करने वालों को राजनीतिक रूप से प्रभावित करता है।

ब्रेख्ट ने अलगाव के सिद्धान्त को जन्म दिया। यह चरित्र और वास्तविक जिंदगी के बीच विवेकाधीन दूरी रखने का सिद्धान्त है। जब हम नाटक कर रहे होते हैं तो हम वही चरित्र नहीं हो जाते बल्कि हम अभिनय करते हैं और यह दिखना चाहिए। तभी दर्शक भी नाटक को वास्तविक जिंदगी न समझकर नाटक ही समझेगा। ब्रेख्ट के ही शब्दों में हमें अपने अभिनय में अपना ज्ञान प्रदर्शित करना चाहिए। ज्ञान- मानवीय व्यवहार और मानव समाज का। नाटक और वास्तविक जिन्दगी का यह अलगाव अभिनेता और दर्शक दोनों को अभिभूत होने से बचाता है और उनके विवेक को सक्रिय करता है।

कथ्य के हिसाब से शिल्प को बदलने के क्रम में उनका एक नई समस्या से सामना हुआ। वह था चरित्र के बदलते हुए भीतरी जगत का बाह्यीकरण। यह समस्या ब्रेख्ट ने काबूकी थियेटर से प्रेरणा लेकर सुलझाई। अलग-अलग तरह के मुखौटों के प्रयोग ने किसी चरित्र की मानसिक दशा में परिवर्तन के प्रतीक के रूप में काम किया। यह एक नई मनोवैज्ञानिक तकनीक थी। ब्रेख्ट ने शब्दों और भंगिमाओं के विरोधाभास से भी अपने चरित्रों के भीतरी परिवर्तनों की झलक दर्शकों के सामने प्रस्तुत करने की कला को नया आयाम दिया। ब्रेख्ट ने मंच की वह चौथी दीवार तोड़ने की हर संभव कोशिश की जो अभिनेता और दर्शकों के बीच बनी रहती है। एपिक थियेटर और उद्देश्यपरक नाटकों के सामंजस्य और दर्शकों की प्रभावी भूमिका के चिंतन ने ही नुक्कड़ नाटकों का वह रूप तैयार किया जो पूरी दुनिया में गुरिल्ला संस्कृतिकर्मियों का हथियार है जिसका प्रयोग फासिस्ट जर्मनी में खूब हुआ।

ब्रेख्ट के दोस्त और संगीतकार हैन्स एसलर ने उनके ‘**एक जुटता का गीत**’ को भी संगीतबद्ध किया जो कि फिल्म ‘**टू ओन्स दि वर्ल्ड**’ में गाया गया था। यह जर्मनी की पहली क्रांतिकारी फिल्म थी। फिल्म को कड़े सरकारी सेंसर का शिकार होना पड़ा। फिल्म को पूरा दिखाने के लिए जनता ने प्रदर्शन भी किए। लेकिन फासीवाद अपना असली रूप अखिल्यार कर रहा था। 1933 में ब्रेख्ट को अपनी प्रतिबद्धता का पुरस्कार मिला। उन्हें जर्मनी से निकाल दिया गया और विश्व के इतिहास में अन्याय और अत्याचार से भरे अभूतपूर्व युग की शुरुआत हुई।

ब्रेख्ट की रचना की परिस्थितियों को समझने के लिए तत्कालीन यूरोप और जर्मनी के हालात समझना जरूरी हैं।

पहले विश्वयुद्ध के बाद से ही पूरे यूरोप और खासकर जर्मनी की परिस्थितियों ने दूसरे विश्वयुद्ध की तैयारियां शुरू कर दी थीं। जर्मनी प्रारम्भ से ही उपनिवेशों की दौड़ में पिछड़ गया था। उस पर युद्ध को जन्म देने वाली शान्ति के काल में संधियों के द्वारा विश्वयुद्ध में पराजित जर्मनी से उपनिवेश और खदान क्षेत्र छीन लिये गये और उस पर भारी हर्जाना लगाया गया। सन् 1919 और 1923 में जर्मनी में दो जबरदस्त क्रांतिकारी उभार हुए लेकिन उन्हें दबा दिया गया। इस समय में युद्ध को महिमामंडित करती हुई और अंधराष्ट्रवादी मानसिकता का निर्माण करती नाजी पार्टी अस्तित्व में आई। इन्होंने मजदूरों और पूंजीपतियों के बीच वर्ग सहयोग की चाल चलनी शुरू की। कम्युनिस्टों और यहूदियों के खिलाफ घृणित प्रचार किये गये। पूरी नाजी पार्टी गुण्डों की पार्टी बन गयी जो एक ओर तो पूंजीपतियों के इशारे पर मजदूरों की हड़तालें तुड़वाते थे दूसरी ओर मजदूरों से पूंजीपतियों के खिलाफ प्रचार करते थे। दरअसल वैश्विक लूट में पिछड़ गये जर्मन पूंजीपति की कूर कुंठा का प्रतिनिधित्व करती थी नाजी पार्टी। इस स्थिति में 1929 से शुरू हुई आर्थिक मंदी ने जर्मनी को तबाह कर दिया। चुनावों में सबसे ज्यादा मत मध्यवर्गीय को मिले, कम्युनिस्ट दूसरे नम्बर पर और नाजी तीसरे पर थे। हालांकि अगले दो चुनावों में नाजियों को बहुमत नहीं मिल सका। लेकिन हिटलर अन्य दक्षिणपंथियों के षड्यंत्र से सत्ता में आ गया। इसके साथ ही कम्युनिस्टों और यहूदियों का अमानवीय दमन शुरू हुआ। अंततः ब्रेख्ट भी इसका शिकार हुए।

इसके बाद तो ब्रेख्ट ने ‘**जूतों से ज्यादा देश बदले**’। चेकोस्वाकिया, स्विटजरलैंड और फ्रांस होते हुए वे एक डेनिश द्वीप पर पहुंच गये। अपने इस प्रवास पर उन्होंने ‘**स्वैडबोर्ग पोएम्स**’ शीर्षक से कविताएं लिखीं वहां ब्रेख्ट का घर वतनबदरों की शरणस्थली बन गया जहां कवि **वाल्टर बेंजामिन** से लेकर जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी के नेता **हरमन डंकर्ट** तक ने पनाह ली। ब्रेख्ट और उनके साथियों की बहसें और गतिविधियां फासीवाद विरोध पर केंद्रित हो गयीं। 1933 में फासीवादी सरकार ने जर्मनी में ब्रेख्ट, उनकी पत्नी हेलेन व्हीगल, और इनके बेटे स्टीफन की नागरिकता समाप्त कर दी। सरकार की ओर से जारी डिग्री इतिहास के सामने ब्रेख्ट का प्रशस्तिपत्र बन गयी।

पेरिस में 1935 में पहले अंतर्राष्ट्रीय लेखक सम्मेलन में फासीवाद के कारणों की चर्चा करते हुए ब्रेख्ट ने कहा था ‘हममें से बहुत से ऐसे साथी हैं जो फासीवाद की क्रूरता के खिलाफ जमकर बोलते हैं लेकिन वे सम्पत्ति संबंधों के पक्षधर हैं। (निजी संपत्ति के हिमायती हैं-ले.) मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर हम संपत्ति संबंधों को बरकरार रखने के पक्षधर हैं तो हम फासीवाद के खिलाफ निर्णायक लड़ाई में बहुत दूर तक नहीं जा सकते। साथियों! वक्त आ गया है जब हमें सम्पत्ति की व्यवस्था के खिलाफ बोलना होगा।’ ब्रेख्ट बौद्धिक और भौतिक संघर्ष के बीच के रिश्ते को अच्छी तरह समझते थे। 1936 में दूसरे अंतर्राष्ट्रीय लेखक सम्मेलन में ब्रेख्ट ने कहा ‘संस्कृति को हम हर संभव तरीके से बौद्धिक संघर्ष से बचा सकते हैं। लेकिन जहां हथियार से हमला हो रहा है वहां सिर्फ हथियार ही जवाब दे सकते हैं।’ इसके साथ ही ब्रेख्ट ने सोवियत संघ की लाल सेना और फ्रेन्को फासीवाद के खिलाफ लड़ती हुई स्पेन की लायलिस्ट सेना के साथ अपनी एकजुटता भी प्रदर्शित की। ब्रेख्ट स्वीडन पहुंच गये। इसके बाद ब्रेख्ट ने अपना युगान्तकारी नाटक ‘**गैलीलियो**’ (1938) लिखा। ब्रेख्ट इतिहासबोध से लैस उन लोगों में से थे जो स्पष्ट देख पा रहे थे कि इन अंधकार वर्षों के पीछे से एक रश्मि रेखा बही आ रही है। वे समाज में एकजुट हो रही एक नई ताकत को देख पा रहे थे। **गैलीलियो: व्यक्ति भटकता है, डरता है लेकिन इतिहास, विज्ञान की निर्णायक जीत दर्ज कर**

लेता है। फासीवाद के खिलाफ प्रचार कार्य में जुटे हुए ब्रेख्ट की लेखनी लगातार चलती रही। नाटक 'ट्रायल ऑफ ल्यूकलस और 'मदर करेज एंड हर चिल्ड्रेन' तथा 'जनरल' जैसी कविताएं इसी काल में लिखी गयीं।

ब्रेख्ट नाजी आक्रांताओं से बचते-बचते फिनलैंड पहुंचे। उन्होंने नाटक 'मि. पुन्टीला एंड हिज मैन माट्टी' 'दि रेजिस्टेबिल राइज आफ ऑर्तुरो यू' लिखे। दूसरे नाटक में उन्होंने हिटलर के जन्म के कारणों की खोजबीन की। इसके साथ ही उन्होंने कई महत्वपूर्ण लेख लिखे जिसमें 'थिंकिंग अबाउट द अमेरिकन थियेटर' प्रमुख हैं। जून 1941 में जब ब्रेख्ट मास्को में थे उन्हें गहरा सदमा पहुंचा, उनके कर्मठ सहयोगी हमसफर और दोस्त मार्गरेट स्टीफन का निधन हो गया। ब्रेख्ट ने कविता लिखी 'मेरा सिपहसालार' मेरा सिपाही/नहीं रहा।'

भटकते हुए ब्रेख्ट अमेरिका जा पहुंचे। लेकिन हॉलीवुड की आरामफहम जिन्दगी और बौद्धिक दिवालियापन का माहौल उन्हें हमेशा कचोटता रहता था। हॉलीवुड में ब्रेख्ट ज्यादातर आर्थिक दबावों के कारण फिल्मों के लिए लिखते रहे। लेकिन उनकी फासीवाद के विरोध की गतिविधियां रुकी नहीं वे हमख्याल बुद्धिजीवियों को साथ लेकर अमेरिका में भी सक्रिय रहे। इसके साथ ही वे अपनी रचना 'वार प्राइमर' पर भी काम करते रहे जिसे उन्होंने 1939 में शुरू किया था। एक लोकतांत्रिक जर्मनी के लिए ब्रेख्ट का संघर्ष जारी रहा। 1944 में 'लोकतांत्रिक जर्मनी की परिषद' का गठन किया गया। तत्कालीन परिस्थितियों में एक ऐसी व्यवस्था नहीं लाई जा सकती थी- जिसमें कम्युनिस्टों का पूर्ण शासन स्थापित हो इसलिए फासीवाद विरोध ही उस समय एकजुटता का साझा आधार बना। इस परिषद में उदारवादी, लोकतांत्रिक समाजवादी, कम्युनिस्ट, कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट, ट्रेड यूनियन नेता, लेखक और वैज्ञानिक शामिल थे।

ब्रेख्ट ने सोवियत संघ को समर्पित करते हुए नाटक 'कॉकेशियन चॉक सर्किल' लिखा। इस नाटक की प्रेरणा भूमि चीनी नाटकों और बाइबिल से ली गयी थी और यह समाज में संपत्ति संबंधों का स्वरूप बदले जाने पर आधारित था। परमाणु बम गिराये जाने की घटना ने ब्रेख्ट को गहरे आंदोलित किया। उन्होंने 'गैलिलियो' में कुछ और संदर्भ जोड़ते हुए उसकी पुनर्रचना की। 'फियर एण्ड मिजरी ऑफ थर्ड राइख' 'कॉकेशियन चॉक सर्किल', और 'गैलिलियो' के प्रदर्शन ने अमेरिकी खुफिया विभाग को सचेत कर दिया कि ब्रेख्ट 'कम्युनिस्ट कार्यकर्ता और सोवियत संघ का एजेण्ट' है। खुफिया पुलिस ब्रेख्ट के पीछे पड़ गयी। 1947 में ब्रेख्ट ने चुपके से एक दिन अमेरिका को अलविदा कह दिया।

अमेरिका से ब्रेख्ट स्विटजरलैण्ड पहुंचे। वहां उन्होंने सोफोकलीज के नाटक एंटीगोन को रूपान्तरित करके प्रस्तुत किया। साथ ही उन्होंने अपने नाटक 'दि डेज आफ कम्यून' पर काम करना शुरू किया। हेलेन व्हीगल की सलाह पर ब्रेख्ट ने उद्देश्यपरक नाटकों के अपने सिद्धान्तों को संकलित करते हुए 'वर्किंग जनरल' में एक लेख लिखा। ब्रेख्ट ने पन्द्रह साल बाद बर्लिन की धरती पर कदम रखा। जर्मनी की जनता और अग्रणी बुद्धिजीवी उसके इस्तकबाल में उमड़ पड़े। यहां आकर ब्रेख्ट ने 'मदर करेज एंड हर चिल्ड्रेन' का प्रदर्शन किया। इस प्रदर्शन पर लिखते हुए ब्रेख्ट ने कहा 'युद्ध के खिलाफ लड़ने के लिए कोई बलिदान ज्यादा नहीं है'। 7 अक्टूबर 1949 को जर्मन प्रजातांत्रिक गणतंत्र की स्थापना हुई। ब्रेख्ट ने अपनी प्रसिद्ध कविता लिखी 'अपने देशवासियों के लिए'। उनके लिए कई भूमिकाएँ इन्तजार कर रही थीं। वतनबंदर ब्रेख्ट फासीवाद के खिलाफ लड़ते हुए, सम्पत्ति सम्बन्धों की आलोचना करते हुए नई-नई रचनाएं करते रहे थे। अब एक और काम उनके जिम्मे था। एक ऐसी संस्था का निर्माण करना जो क्रांतिकारी, समाजवादी, गतिशील यथार्थवादी रचनाओं को प्रोत्साहित करे, उनके अनुरूप वातावरण का निर्माण करे और इस सबके माध्यम से साहित्य को उस जनता के करीब लाये जिसके लिए वह रचा जाता है।

सोवियत सैनिक प्रशासन और जर्मन सोशलिस्ट यूनिटी पार्टी के नेतृत्व की पहलकदमी पर दि बर्लिनर इन्सेम्बल की स्थापना 1949 में की गयी। ब्रेख्ट और हेलेन व्हीगल की जोड़ी ने यहां का नेतृत्व संभाल लिया। पिकासो के शांति के कबूतर यहां का प्रतीक थे। सामाजिक रूपान्तरणों को दिखाने वाले नाटक इसकी प्राथमिकता थे। ब्रेख्ट कहते थे- 'केवल संघर्ष ही नहीं बल्कि उनका इतिहास भी प्रेरणा देता है।' ब्रेख्ट का ध्यान केवल समकालीन रचनाओं पर ही नहीं बल्कि उन क्लासिक पर भी था जिनके माध्यम से मनुष्यता की स्थापना हो और समाज की सतत परिवर्तनशीलता पर प्रकाश पड़े। 1953 में ब्रेख्ट ने अपने नाटक 'काट्जगार्बेन' के माध्यम से जैसे जर्मनी के गांवों का समकालीन संघर्ष मंच पर उतार दिया।

'बर्लिनर इन्सेम्बल' के दार्शनिक आधारों को मजबूत करते हुए और कला को लगातार भौतिकवाद और जनसंघर्षों से जोड़ने के क्रम में ब्रेख्ट ने नाटक और द्वन्द्ववाद पर लिखना जारी रखा। 1954 में 'नाटक में द्वन्द्ववाद पर नोट्स' में ब्रेख्ट ने लिखा- 'पुराने विषयों को नये विषयों और नये उद्देश्यों के साथ जोड़ने की विधि हमें लगातार अपनी रचना की प्रविधि पर नजर रखने के लिए सचेत करती रहती है।'

ब्रेख्ट को 'जर्मनी एकेडमी आफ आर्ट्स' जो कि संस्कृति मंत्रालय का हिस्सा थी, का उपाध्यक्ष बनाया गया। एकेडमी के अध्यक्ष कवि जोहान्स आर. बेकर थे। दोनों ही शांति, प्रगति और समाजवाद के अपने उद्देश्यों के प्रति समर्पित होकर कार्य कर रहे थे। उनके लिए रचनाकार की स्वतंत्रता एक पवित्र अधिकार थी लेकिन उसकी एक सीमा भी थी जिसे ब्रेख्ट ने अपने लेख और पत्रों में स्पष्ट रूप से इंगित किया। -रचनाकार को पूर्णरूप से स्वतंत्र होना चाहिए लेकिन किसी भी स्वतंत्रता का मतलब यह नहीं लगाया जा सकता कि वह युद्ध की प्रशंसा करे या लोगों के बीच नफरत के गीत गाये। 1953 में नई सरकार की गलतियों के विरोध में प्रदर्शन कर रहे मजदूरों को फासिस्ट प्रचारकों ने अपने ढंग से इस्तेमाल करने की कोशिश की। इन प्रचारकों को परास्त कर दिया गया। इस घटना के उपरांत सरकार की गलतियों पर उसे सीख देने में ब्रेख्ट ने कोई हिचकिचाहट नहीं महसूस की। उन्होंने कविता लिखी। यह नेतृत्व से सीधी वैचारिक मुठभेड़ थी जिसे ब्रेख्ट जैसा ही कोई प्रतिबद्ध और बेलौस कलाकार अंजाम दे सकता था।

बिना तालमेल बिठाये

जनता के विवेक से

कैसे पारित किये जा सकते हैं महान आदेश

सुनो शिक्षक।

सुनो ध्यान से अपने शब्द

जब बोल रहे हो तुम

ब्रेख्ट को 1954 में स्तालिन शांति पुरस्कार से सम्मानित किया गया। अगस्त 1956 में वे विदा हुए। अंतिम समय तक सक्रिय अंतिम समय तक राजनीतिक रूप से सचेत। ब्रेख्ट ने अपने जीवन का एक बड़ा हिस्सा युद्धोन्माद के चलते देश निकाले में बिताया था। वे जानते थे कि युद्ध के

पागलपन का मतलब क्या है- 'एक खाई पाटने के लिए बना दूसरी खाई।' वे चाहते थे कि जंग का कारोबार किसी तरह से रुके। एक ईमानदार मार्क्सवादी की तरह उन्होंने तर्क और विवेक को अपना औजार बनाया। व्यापक जनहित और दुनिया में शांतिपूर्ण समाज की स्थापना के उनके लिए सर्वोच्च मूल्य थे। उन्होंने स्वयं अपनी पार्टी के नेतृत्व से भी कभी समझौता नहीं किया। उन्होंने सरकार को लिखा- चूंकि मैं युद्ध के खिलाफ हूँ इसलिए अनिवार्य सैनिक भर्ती का भी पुरजोर विरोध करता हूँ। इस मसले पर जर्मनी के दोनों हिस्सों में जनमत संग्रह करवाया जाना चाहिए। क्योंकि यह मामला जिन्दगी और मौत का सवाल जैसा है।'

ब्रेख्त के बाद भी उनका कारवां रुका नहीं। उनकी दोस्त-पत्नी हेलेन और उनके तमाम हमसफर उनके उद्देश्यों को लेकर आगे बढ़ते रहे। आज भी हिन्दुस्तान और दूसरे मुल्कों में मंच पर सबसे ज्यादा उतरने वाले और बहसों का केंद्र बिन्दु बनने वाले नाटक ब्रेख्त के ही हैं। संघर्ष और शांति का यह कलाकार समझता था कि पूर्ण शांति बगैर पूर्ण समानता के असंभव है। वह कहता है- 'युद्ध से हुई भयानक तबाही देखने के बाद बस एक इच्छा मन में उमड़ती है कि जैसे भी हो अपने तरीके से एक असमाप्त शांति के लिए काम करूं। क्योंकि इसके बगैर यह दुनिया रहने लायक नहीं रहेगी।'

(साभार:- इतिहास बोध 30-1998)

(साभार : नागरिक' वर्ष 14, अंक 15, 1-15 अगस्त, 2011)

बीसवीं शताब्दी, होरी-धनिया और प्रेमचंद

इस साल 31 जुलाई को प्रेमचन्द की 125वीं जयन्ती मनायी गयी है। यहां तक कि शासक पार्टियों के नेताओं तक ने प्रेमचन्द के गांव लमही (बनारस) जाकर उन्हें श्रद्धांजलि दी। अचानक ही साहित्यकारों, पत्रकारों से लेकर पूंजीवादी नेताओं तक का प्रेमचन्द के प्रति प्रेम उमड़ आया। प्रेमचन्द की परम्परा को भुनाने के लिए उनका जाप करने वालों से लेकर राजेन्द्र यादव तक, जो सालों से अपने 'हंस' में (जिसे उन्होंने पूरी बेशर्मी के साथ प्रेमचन्द द्वारा स्थापित होना घोषित कर रखा है) केवल स्त्री-पुरुषों सम्बन्धों की अश्लील परिक्रमा करने में व्यस्त हैं, सबने प्रेमचन्द को अपने तरीके से याद किया। 'जाकी रही भावना जैसी...।

यह प्रेमचन्द की महानता को, साहित्यकार के रूप में उनके विराट व्यक्तित्व को दिखाता है कि आज भी भांति-भांति के लोग उन्हें याद करने पर, अपने को उनसे जोड़ने पर मजबूर हैं। जिनका प्रेमचन्द से कोई सम्बन्ध नहीं है या जो प्रेमचन्द के विरोधी रास्ते पर चल रहे हैं यदि वे भी इकट्ठा होते हैं और उन्हें श्रद्धांजलि देते हैं तो यह उस महान साहित्यकार के सामने नतमस्तक होना ही हुआ। बीसवीं शताब्दी से लेकर अब तक हिन्दी में ऐसा कोई अन्य साहित्यकार नहीं हुआ।

प्रेमचन्द की कहानियां और उपन्यास यदि अपनी शिशुवत सरलता, भोलेपन के बावजूद हमें आकर्षित करते हैं तो इसका कारण क्या है? अकसर उन्हें पढ़ते हुए लगता है कि यह उन सम्बन्धों और स्थितियों का वह जटिल चित्रण नहीं है, जो यथार्थ में है, इसके बावजूद पाठक उस चित्रण से बंधा रहता है। क्या राज है इसका? यहां तक कि स्वतंत्रता संग्राम की आदर्श की उन्मुख कहानियां भी जो आज लिखी जाने पर निरा प्रचार सामग्री मानी जायेंगी, दिल को छू जाती हैं। अपने प्रचार में प्रेमचन्द क्यों सफल हो जाते हैं?

इन सारे सवालियों का एक ही जवाब है और वह यह है कि प्रेमचन्द अपने समय के साहित्यकार थे। वे खालिस अपने समय के साहित्यकार थे। उनके साहित्य की जड़ें उनके समय में गहरे तक धंसी हुयी थीं, इतनी गहरी कि उनके साहित्य को पढ़कर बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध की एक बहुत अच्छी तस्वीर सामने आ जाती है। प्रेमचन्द उन साहित्यकारों में से थे, जिनके बारे में कहा जाता है कि उनका साहित्य अपने जमाने का किसी इतिहासकार से ज्यादा अच्छा चित्र प्रस्तुत करता है। प्रेमचन्द इस हद तक अपने जमाने का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं कि वह चित्र सार्वकालिक हो गया। अपने समय में धंसकर उन्होंने जो साहित्य दिया वह समय की सीमाओं से परे हो गया। साहित्य में हमेशा यही होता है।

तो कैसा समय था प्रेमचन्द का? किस जमाने को उकेरा प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों और कहानियों में?

प्रेमचन्द के समय की यानि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के भारत की (खासकर उत्तर भारत की) मूलभूत विशेषताएं थीं। एक तो यह कि भारत में अंग्रेजी शासन के खिलाफ पैदा हुआ राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन धीमे-धीमे कर जन आंदोलन बन गया था और इसने शहरों ही नहीं देहातों को भी अपनी जद में ले लिया था। और जो जमीनी स्तर पर (ऊपरी नेता चाहे कितने दबू या सुधारवादी हों) सीधा आजादी का आंदोलन ही था। दूसरा यह कि देहातों में पूंजीवाद धीमे-धीमे प्रवेश कर रहा था और वह छोटे-मध्यम किसानों को तबाह कर मजदूर बनने की ओर धकेल रहा था। प्रेमचन्द का सारा साहित्य इस या उस रूप में मूलतः इन्हीं बिन्दुओं के इर्द-गिर्द है।

भारत का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन शहरों में पैदा हुआ और देहातों की ओर फैलता चला गया। भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी के पदार्पण के साथ यह किसानों का भी आंदोलन बन गया। यह सर्वविदित है कि 1930 के दशक तक कांग्रेस पार्टी खुलेआम आजादी की बात नहीं करती थी। वह महज डोमिनियन स्टेट इत्यादि तक सीमित थी। केवल 1942 में जाकर ही इसने 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' का नारा दिया। लेकिन इसमें शामिल हो रही गरीब-मेहनतकश जनता के लिए बात कुछ और थी। वह शुरू से ही इसे आजादी का आंदोलन मानती थी। यही नहीं, वह इस आजादी का मतलब अपनी भुखमरी-तंगी-गरीबी से भी आजादी मानती थी। इसमें जनता का कसूर नहीं था। खुद कांग्रेसी नेताओं ने ही देश की आर्थिक दुर्दशा और इसलिए मेहनतकश जनता की दुर्दशा का कारण अंग्रेजी राज को घोषित कर रखा था। इसलिए अंग्रेजी राज से मुक्ति का मतलब आज जनता के लिए गरीबी-बदहाली से भी मुक्ति था।

खासकर गांव की किसान जनता इसको इसी रूप में लेती थी। उत्तर प्रदेश की किसान जनता (जो प्रेमचन्द के साहित्य में वर्णित है) जमींदारों के शोषण से बुरी तरह पीड़ित थी और इन जमींदारों की पीठ पर अंग्रेजी राज का हाथ था। बल्कि अंग्रेज इन जमींदारों के माध्यम से ही किसानों का शोषण करते थे। ऐसे में किसानों के लिए अंग्रेजी राज के खात्मे का मतलब था, जमींदारों के शोषण से भी खात्मा। इसलिए किसान जनता जब आजादी की लड़ाई में आती थी तो वह अंग्रेजी राज के साथ जमींदारी का भी खात्मा मानकर चलती थी।

लेकिन इसी के साथ एक और भी चीज थी, जो किसानों के लिए और स्वयं प्रेमचन्द के लिए अदृश्य थी। यह अदृश्य थी और इसलिए यह ज्यादा परेशानी पैदा करती थी। यह थी बाजार की शक्ति- गांवों में धीमे-धीमे पूंजीवाद का प्रवेश। अंग्रेजों ने भारत में अपना राज चलाने के लिए सामंती तत्वों को अपना आधार बनाया परन्तु उन्होंने देश को लूटने के लिए जो सब किया, उससे देश में पूंजीवादी विकास प्रारम्भ हो गया। देश के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में यह विकास फैलने लगा। देहातों में नील और कपास की व्यवसायिक खेती से शुरू करके अन्य फसलों तक भी यह प्रसारित होने लगा। किसान इस या उस रूप में बाजार से जुड़ने लगा और सीमित स्तर पर ही सही किन्तु अंतर्राष्ट्रीय बाजार से प्रभावित होने लगा।

खुद पुराने सामंती तत्व भी बाजार से अछूते नहीं रहे। किसानों का सामंती शोषण करने के बावजूद वे नकदी पर निर्भर होने लगे व भांति-भांति के पूंजीवादी उद्यमों से जुड़ने लगे। इसका प्रभाव किसानों पर पड़ना लाजिमी था।

देहातों में पूंजीवाद के इस प्रसार का नतीजा यह निकला कि छोटे-मध्यम किसान बाजार की शक्तियों की लपेट में आकर तबाह होने लगे। वे किसानों को खोकर मजदूर बनने लगे। वे देहात में ही मजदूर बनने लगे या ज्यादातर मामलों में शहर पलायन करने लगे। छोटे-मंझोले किसानों का किसानों को खोकर मजदूर बनना इन किसानों के लिए अत्यन्त पीड़ादायी था, उस समाज में, जिसमें यह कहावत प्रचलित थी 'उत्तम खेती, मध्यम बान, निषिद्ध चाकरी, भीख निदान'। ऐसा क्यों और कैसे हो रहा है यह समझना तो किसानों के लिए असंभव ही था।

एक साहित्यकार के रूप में प्रेमचन्द अपनी जहनियत में छोटे किसान हैं, वह किसान जो अपने और अपने परिवार की मदद से खेती करता है और अपनी परम्परागत रूढ़ियों का निर्वाह करता हुआ खुश रहता है। प्रेमचन्द एक साहित्यकार के रूप में स्वयं ही गोदान के होरी हैं। या दूसरे रूप में कहें तो साहित्य जगत में वे छोटे किसान के प्रतिनिधि और प्रवक्ता हैं। छोटे किसान की दुनिया ही उनकी दुनिया है, उसका विश्व दृष्टिकोण ही प्रेमचन्द का विश्व दृष्टिकोण है। छोटे किसान की दृष्टि से ही वे दुनिया को समझते हैं और नहीं समझते हैं। छोटे किसान की दृष्टि प्रेमचन्द की महानता भी है और ऐतिहासिक सीमा भी। यह उन्हें देश का बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी का नुमाइंदा बनाती है तो उन्हें आगे बढ़ने से रोक भी देती है। वे छोटे किसान की सीमा को लांघकर कभी मजदूर का दृष्टिकोण नहीं अपना पाते, उस मजदूर का, जो छोटे किसान का भविष्य है। इस तरह वे छोटे किसान के अतीत से ही बंधे रहते हैं। वे अंत तक मजदूर हो जाने को पतन, विपदा, सम्मान से गिर जाना ही समझते हैं। प्रेमचन्द इतने महान साहित्यकार हैं कि छोटे किसान के मजदूर में 'पतन' को बारीकी से चित्रित करते हैं लेकिन वे इस प्रक्रिया को न तो समझ पाते हैं और न ही स्वीकार पाते हैं।

छोटा किसान अपनी तबाही की प्रक्रिया को कभी नहीं समझ पाता। व्यक्तिगत छोटी सम्पत्ति का मालिक होने और उसी तक सीमित होने के नाते वह अपनी तबाही को केवल व्यक्तिगत: देखता है। वह सोचता है कि यदि उसका संयुक्त परिवार नहीं टूटता, भाईयों में मनमुटाव नहीं होता तो शायद ये दिन नहीं आते, उस साल सूखा नहीं पड़ा होता तो सब कुछ ठीक चल रहा था, एक बीमारी ने घर बर्बाद कर दिया, इत्यादि। और जब ये सारे स्पष्टीकरण उसके लिए हल्के पड़ने लगते हैं तो वह इसे नियति का खेल मान लेता है। जो कुछ हो रहा है, वह हमारी इच्छा से परे है। किसी पर भी हमारा नियंत्रण नहीं है। हम कुछ भी करें, होगा वही जो होना है।

छोटे किसान का यह दृष्टिकोण व्यवहार से पैदा होता है, जिसे वह अतीत के दर्शन से परिभाषित कर देता है। अतीत का नियतिवादी दर्शन वर्तमान के नियति निर्दिष्ट यथार्थ का स्पष्टीकरण हो जाता है। इसीलिए सहज स्वीकार हो जाता है। पूंजीवाद की गति अपराजेय है। एक बार सामंती समाज में क्रियाशील हो जाने के बाद वह हर व्यक्ति और संस्था को अपनी चपेट में लेने का प्रयास करती है और कर लेती है। अंततः हर चीज पूंजी की गति के सामने समर्पण कर देती है और स्वयं पूंजी की गति अदृश्य रहती है। वह केवल सस्ते और अच्छे माल के रूप में सामने आती है, जिससे उसे नहीं पहचाना जा सकता। या फिर वह रुपये-पैसे के रूप में विचरण करती है, जिससे उसे पहचानना और भी मुश्किल है। इसीलिए पूंजी की ताकत अजेय, अदृश्य दैवी ताकत बन जाती है, जिसका मुकाबला नहीं किया जा सकता। पूंजी की गति नियति बन जाती है।

यदि खुद पूंजीपतियों के लिए पूंजी की गति दैवी शक्ति नियति बन जाती है तो छोटे किसानों के लिए यह और भी बड़ी नियति होती है क्योंकि वह तो केवल पूंजी का शिकार होता है। अपने आस-पास की स्थितियों से संघर्ष कर अंततः पराजित हो जाने के बाद नियति के सामने समर्पण कर देना छोटे किसान की नियति है।

इन्हीं अर्थों में प्रेमचन्द नियतिवादी हैं। अक्सर ही उनके उपन्यासों में, खासकर 'रंगभूमि' और 'गोदान' में नियतिवाद दृष्टिकोण उभरता है। सारे ही पात्र उन स्थितियों तक पहुंचने लगते हैं, जो लगता है जैसे किसी के बस में नहीं है। पूर्ण चेष्टारत और लगातार क्रियाशील पात्र यदि अंतिम परिणति में नहीं पहुंच जाएं, जहां किसी के भी द्वारा अनुमानित या इच्छित न हो तो यह सब केवल नियति का ही खेल हो सकता है। या इसके उलटे यदि सारे प्रयास के बावजूद होरी उधर ही बढ़े, जिधर वह बिल्कुल नहीं बढ़ना चाहता तो यह भी नियति का ही खेल है। यह वही नियति है- पूंजी की गति की नियति - जिसे प्रेमचंद समझते नहीं। वे इस नियति को कभी-कभी प्रारब्ध के हवाले कर देते हैं लेकिन अक्सर ही इसे अधर में लटका छोड़ देते हैं।

अपनी शुरूआती कहानियों और उपन्यासों में प्रेमचन्द इस नियति के सामने समर्पण नहीं करते। वे इससे संघर्ष करते हैं और कथा के अंत में अपना काल्पनिक समाधान पेश कर देते हैं। वे कथा का अंत उस रूप में करते हैं, जैसा वे चाहते हैं न कि वैसा जैसा कि घटना विकास द्वारा वास्तव में होगा। इसलिए उनकी ये कहानियां और उपन्यास अपने अंत में बनावटी लगते हैं। अंतिम दिनों में प्रेमचन्द ने यथार्थ के साथ यह संघर्ष, नियति के साथ संघर्ष छोड़ दिया। उन्होंने नियति को स्वीकार कर लिया। इसीलिए 'रंगभूमि', 'गोदान' और 'पूस की रात' किसी बनावटी अंत की ओर नहीं बढ़ते। वे (पूंजीवादी) नियतिनिर्दिष्ट यथार्थ की सहज स्वीकारोक्ति हैं।

प्रेमचन्द यहां से आगे बढ़ सकते थे। वे पूंजीवाद की गति को समझकर उसके भविष्य, समाजवाद, की ओर प्रस्थान कर सकते थे। लेकिन छोटे किसान का तबाह होकर भी, मजदूर बनकर भी मजदूर का दृष्टिकोण ग्रहण कर पाना बहुत मुश्किल होता है। वह मजदूर पार्टी में शामिल होकर भी मजदूर राज के लिए लड़ते हुए भी एक लम्बे समय तक अतीतजीवी बना रहता है। लेकिन यदि वे जिंदा भी रहते तो छोटे किसान के दृष्टिकोण से अपने को पूर्णतया मुक्त कर पाते, यह कहना मुश्किल है। यह उनकी ऐतिहासिक सीमा थी जिससे पार पाना उनके लिए काफी मुश्किल होता। लेकिन इस सीमा के बावजूद वे मजदूरों-मेहनतकशों की मुक्ति के साथ पूर्णतया खड़ा हो जाते क्योंकि छोटे किसान की मुक्ति मजदूरों द्वारा समाज की मुक्ति में ही निहित थी। प्रगतिशील लेखक संघ की 1936 में स्थापना के समय सम्मेलन की अध्यक्षता कर उन्होंने इसका परिचय दिया था और इसी का परिचय उन्होंने 'महाजनी सभ्यता' नामक अपने वैचारिक लेख में दिया था।

एक कथाकार और खासकर मेहनतकश जनता के दुख-दर्दों के साथ खड़े कथाकार के रूप में प्रेमचंद महान हैं, बेजोड़ हैं। उनकी सीमाएं पिछड़े भारत की ऐतिहासिक सीमाएं हैं। अपने समय के पिछड़ेपन के बावजूद उन्होंने मेहनतकश जनता के दुःख-दर्द को न केवल उकेरा बल्कि उसकी छटपटाहट को भी व्यक्त किया। उसकी मुक्ति की आकांक्षा को भी स्वर दिया- अंग्रेजी राज से मुक्ति, गरीबी-शोषण से मुक्ति।

प्रेमचन्द के गांधीवादी विचारों का मानना एकदम गलत है। गांधीवादी भारत के दबू, सुधारवादी पूंजीपति वर्ग की विचारधारा के हैं जिसमें सामंती भारत के स्वर्णिम अतीत की वैचारिक पूंछ लगी हुयी है। गांधीवाद किसानों की विचारधारा नहीं है। वैचारिक तौर पर स्वर्णिम अतीत का बाना लपेटकर और व्यावहारिक तौर पर लंगोट धारण कर महात्मा गांधी केवल किसानों को धोखा देते हैं। वे भारत के सुधारवादी पूंजीपति वर्ग के गोंडफादर हैं, जिन्होंने किसानों

को साथ लेने के लिए संत का रूप धारण किया यानी बहुरूपिया।

प्रेमचन्द की मृत्यु के 69 साल बाद आज देश की स्थितियां काफी बदल चुकी हैं। गोरे अंग्रेज जा चुके हैं। उनकी जगह काले अंग्रेज सत्ता में विराजमान हैं। राज-रजवाड़े-जमींदार विलुप्त हो गये हैं। गांवों में पूंजीवादी सम्बन्ध स्थापित हो गये हैं। छोटे किसान भारी मात्रा में तबाह हो गये हैं, बाकी की तबाही की प्रक्रिया तेज हो गयी है और उसका रूप बदल गया है। समाज में एक बार फिर काफी ज्यादा असंतोष और छटपटाहट है। ऐसे समय में जनता की मुक्ति और स्वर देने के लिए एक और प्रेमचन्द की जरूरत है। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि ज्यादातर साहित्यकार प्रेमचन्द का नाम जपते हुए भी अपने उदर-शिक्षण की जरूरत पूरा करने के लिए साहित्य में शिश्न-योनि की परिक्रमा करते हुए उन्हीं पूंजीवादी शक्तियों की चाकरी कर रहे हैं, जिससे आम मजदूर-मेहनतकश जनता को लड़ना है। क्या इन सबसे मुक्त होकर कोई साहित्यकार आगे आयेगा, जो इक्कीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध का प्रेमचन्द बनेगा? तमाम मजदूर-मेहनतकश जनता को उसका इंतजार है।

(साभार: नागरिक वर्ष 8 अंक 17, 1-15 सितम्बर 2005)

शहीद ऊधम सिंह

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक समझौताहीन योद्धा

ब्रिटिश औपनिवेशिक व्यवस्था का उद्देश्य भारतीय जनसमुदाय का शोषण और यहां के संसाधनों की लूट था। अपने राजनीतिक प्रभुत्व को जारी रखने के लिए वह पुलिस, सशस्त्र बलों, जेलों और न्यायालयों के साथ-साथ औपनिवेशिक शासन सत्ता के पक्ष में विचारों के प्रचार-प्रसार पर निर्भर करती थी। साम्राज्यवादी सत्ता की मदद के लिए विकसित यह मशीनरी उसके प्रभुत्व को स्थापित और सुदृढ़ करती थी। एक समय बाद इस उत्पीड़न ने उत्पीड़नकारी व शोषणकारी औपनिवेशिक प्रशासन के उत्पीड़न से पीड़ित लोगों के बीच प्रतिरोध को जन्म दिया। इसने दबे-कुचले समाज को बदलने में भूमिका निभाई और भारतीय जनसमुदाय के बीच विदेशी तानाशाही द्वारा गुलामी और शोषण के प्रति चेतना का संचार किया। ऊधम सिंह इसी चेतना की उपज थे।

ब्रिटिश हुकूमत के साथ-साथ भारतीय पूंजीपति वर्ग भी भारत के उत्पादन संसाधनों पर कब्जा करने पर आमादा थे। इसके लिए वे यहां की आबादी को कुचलते थे, साम्प्रदायिक दंगों को बढ़ावा देते थे और ब्रिटिश हुकूमत के विरुद्ध किसी भी प्रतिरोध आंदोलन में हिस्सेदारी करने का साहस करने वालों का दमन करते थे। साम्राज्यवादी प्रथम विश्व युद्ध और रूस में अक्टूबर क्रांति की विजय ने विश्व राजनैतिक परिदृश्य को एकदम बदल दिया तथा कम्युनिस्ट विचारधारा के प्रचार-प्रसार को गति प्रदान की। इसने बीसवीं शताब्दी के बीस और तीस के दशक के राष्ट्रीय क्रांतिकारियों पर अमिट छाप छोड़ी।

बीसवीं शताब्दी के आगमन के बाद हमारे देश के कृषि क्षेत्र में गम्भीर संकट आये। मुख्यतया कृषि पर आधारित प्रदेश होने के चलते पंजाब का समूचा आर्थिक ढांचा इसी के इर्द-गिर्द था। गरीबी के हालात में पंजाब में उन्नीस सौ सात (1907) का किसान उभार पैदा हुआ, हालांकि इस उभार को निर्ममता के साथ कुचल दिया गया था। तब भी इसने ब्रिटिश हुकूमत के विरुद्ध घृणा और विद्रोह की परम्परा को जन्म दिया। इस घृणा व विद्रोह का स्वाभाविक परिणाम 'गदर पार्टी' थी।

ब्रिटिश सत्ताधारी, 'गदर पार्टी' के उद्भव के परिणामों से अच्छी तरह परिचित थे क्योंकि इसका घनिष्ठ सम्बन्ध सेना के एक हिस्से के साथ था। 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के बाद ब्रिटिश भारतीय सेना का पंजाबीकरण कर दिया गया था। ऐसी परिस्थिति में किसी भी लोकप्रिय आंदोलन का यदि भारतीय सेना पर प्रभाव पड़ता तो भारत में ब्रिटिश शासन के भाग्य पर खतरा मंडरा जाता। और इसका परिणाम यह होता कि ब्रिटिश शोषकों को यहां के कच्चे मालों के विशाल भण्डार को खोना पड़ता और ब्रिटिश औद्योगिक उत्पादों की बिक्री के लिए बड़ा बाजार हाथ से निकल जाता, इसके साथ ही ब्रिटिश साम्राज्यी सेना के लिए 'तोप के चारे' के तौर पर इस्तेमाल होने वाले लाखों-लाख पंजाबियों की भर्ती रुक जाती, चूंकि राष्ट्रीय क्रांतिकारियों ने सेना के भीतर अपने सम्पर्क कायम कर लिये थे और वे उनके भीतर ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ चेतना पैदा कर रहे थे। इसलिए ब्रिटिश हुकूमत सेना और उसमें भर्ती होने वाले क्षेत्र दोनों में शांति कायम रखने के उद्देश्य से काम करती थी। यही कारण है कि ब्रिटिश हुकूमत ने पंजाब के अंदर किसी भी विद्रोह के प्रयास को निर्ममता से कुचला। उस समय पंजाब की परिस्थिति का मुख्य लक्षण शोषण व उत्पीड़न के विरुद्ध लोगों का प्रतिरोध होता जा रहा था। कृषि में संकट और इसके परिणामस्वरूप पैदा होने वाली भूखमरी व गरीबी ने पंजाब में बड़े पैमाने पर लोगों को मौत के मुंह में धकेल दिया था और बचे हुए लोगों को सेना में भर्ती होने के लिए विवश कर दिया था जो विदेशों में जाकर मरने के लिए अभिशप्त थे। इसने सेना के भीतर असंतोष को बढ़ाया और प्रतिरोध को जन्म दिया। इस प्रतिरोध को आजीवन कारावास, यातना और फांसी सहित कठोर दण्ड के साथ निपटा गया। ऊधम सिंह इस सबके बारे में सचेत थे।

मई 1921 में तीसरे इण्टरनेशनल के सुझाव पर यूरोपीय देशों में रहने वाले भारत के सभी राष्ट्रीय क्रांतिकारियों की एक संयुक्त बैठक बुलायी गयी जिसमें सेनफ्रांसिस्को की गदर पार्टी को भी बुलाया गया था। गदर पार्टी के मजदूर अमेरिका के जुझारू मजदूर संगठनों के प्रभाव में थे। इस मीटिंग के नतीजे के तौर पर पंजाब में 'कीर्ति पार्टी' का गठन हुआ। यह पार्टी समाजवादी विचारधारा से लैस और गदर पार्टी का एक हिस्सा थी। गदर पार्टी के संघर्ष का दूसरा चरण कीर्ति पार्टी के रूप में सामने आया। पंजाब में समाजवादी विचारों का प्रचार-प्रसार शुरू हो गया। कीर्ति पार्टी ने गदरी लोगों के पहले बैच को प्रशिक्षण के लिए मास्को भेजा और अपना अखबार 'कीर्ति' नाम से निकालना शुरू कर दिया। गदर पार्टी के समर्थन से होने वाला ये विकास ब्रिटिश हुकूमत की आंखों की किरकिरी बन गया क्योंकि किसानों और मजदूरों के बीच इसका प्रभाव लगातार बढ़ता जा रहा था।

इसी समय क्रांतिकारी राजनीति के परिदृश्य पर भगत सिंह का उदय हुआ। वे एक ऐसे राष्ट्रीय क्रांतिकारी थे जिनके अंदर न केवल विदेशी शासन के विरुद्ध भारत को आजाद देखने की आग जल रही थी, बल्कि वे एक मानव द्वारा दूसरे मानव के शोषण से मुक्ति की चाहत से भरे हुए थे। वे राष्ट्रीय क्रांतिकारियों में तकरीबन पहले थे जो समाजवाद के स्पष्ट परिभाषित विचारों से परिचित थे। भगत सिंह 1915 के गदर पार्टी के विद्रोह के नायक करतार सिंह सराभा के निडर बलिदान से गहरे रूप से प्रभावित थे। भगत सिंह का भी प्रभाव ऊधम सिंह पर पड़ा था।

ऊधम सिंह का जन्म 26 दिसम्बर 1899 को सुनाम के पीलवादा मौहल्ले में हुआ था। उनके पूर्वज लगभग पांच सौ वर्षों से वहां रह रहे थे। अपने बचपन में ही उन्होंने अपने माता-पिता को खो दिया था और वे अमृतसर के एक अनाथालय में जाने के लिए मजबूर हुए। उन्होंने कुछ प्राथमिक शिक्षा और कुछ पेशागत प्रशिक्षण प्राप्त किये। इसी दौरान उनका एक मात्र भाई भी नहीं रहा। दुख के बाद दुख मिलने से उनका व्यक्तित्व गम्भीर हो गया और वे कठोर

श्रम करने वाले मददगार व आत्मनिर्भर बन गये। अपने शुरूआती दिनों में वे अपनी सांस्कृतिक विरासत से गहरे से प्रभावित थे जिसका सिक्ख धर्म और इतिहास सम्बन्धित ज्ञान अनाथालय से मिला था। इसने उन्हें किसी भी परिस्थिति का सामना करने में निर्भीक बना दिया था। यह विश्वास किया जाता रहा है कि उन्होंने मैट्रिक पढ़ाई की थी। लेकिन हाल के प्रमाण बताते हैं कि उनके पास कोई औपचारिक योग्यता नहीं थी। उन्होंने इलैक्ट्रेशियन के बतौर काम सीखा और कुछ समय अमेरिका में बड़ईगिरी के साथ-साथ इंजीनियर के बतौर काम किया। वे उर्दू, गुरुमुखी और अंग्रेजी लिख सकते थे और धारा प्रवाह अंग्रेजी में बात कर सकते थे।

ऊधम सिंह के बचपन का नाम शेर सिंह था। ऐसा कहा जाता है कि धार्मिक कर्मकाण्ड के बाद उनको ऊदे सिंह या ऊधम सिंह नाम दिया गया। 1927 में उनकी गिरफ्तारी के समय वे शेर सिंह, ऊदे सिंह, फ्रेंक ब्राजील और शायद मोहम्मद सिंह आजाद से जाने जाते थे। कुछ लोगों का विश्वास है कि उन्हें “राम मोहम्मद सिंह आजाद” के नाम से जाना जाता था। 1933 में उन्होंने अपने पासपोर्ट में ऊधम सिंह के नाम का इस्तेमाल किया था। अफ्रीका में वे साथ नाम से जाने जाते थे। लंदन में उन्होंने हमेशा अपना नाम ऊधमसिंह इस्तेमाल किया लेकिन आम तौर पर उन्हें बाबा के नाम से जाना जाता था। उन्होंने अपने और जो नाम इस्तेमाल किये उनमें उधन सिंह, शिवदु सिंह, युयश सिधु और हिजनाईनेस, राजकुमार युयुश सिधु शामिल थे। उन्होंने अपने हाथ में मोहम्मद सिंह आजाद के नाम का टैटू गुदवा रखा था।

यह तय कर पाना बहुत मुश्किल है कि उन्होंने अनाथालय कब छोड़ा। लेकिन एक बात यह तय है कि उन्होंने 1918 में मुबासा या मैसोपोटेमिया में बड़ई या मोटर मैकेनिक के बतौर काम किया। इसके बाद उन्होंने युगांडा रेलवे कार्यशालाओं में काम किया। 1922 में वे भारत लौटे और अमृतसर में एक दुकान खोली। ये दुकान क्रांतिकारियों के मिलने-जुलने का अड्डा बन गयी। अफ्रीका जाने से पहले वे डा. शैफुद्दीन किचलू, सरदार अजीत सिंह, सरदार बसंत सिंह और गदर पार्टी के बाबा भाग सिंह और मास्टर मोटा सिंह से मिल चुके थे। वे गदर पार्टी के करतार सिंह सराभा और जलियांवाला बाग काण्ड से परिचित थे।

1924 की शुरूआत में वे अमेरिका गये और वहां गदर पार्टी के सक्रिय सदस्य हो गये। यह भी लगता है कि उन्होंने गदर पार्टी की मदद से भगत सिंह के साथ सम्पर्क स्थापित कर लिया था। अमेरिका से वे फ्रांस, जर्मनी, बेल्जियम, स्विटजरलैण्ड, पोलेण्ड, लिथुआनिया, हंगरी और इटली गये थे। ईरान, अफगानिस्तान, इटली, जर्मनी, पनामा, मैक्सिको, कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, हांगकांग, मलाया, वर्मा और सिंगापुर के गदर पार्टी सदस्यों या सहानुभूति रखने वालों से सम्पर्क रखते थे।

भगत सिंह उनकी गतिविधियों से प्रभावित थे। वे गदर पार्टी के समर्थन से भगत सिंह और उनके साथियों की मदद करने के लिए काफी मात्रा में क्रांतिकारी साहित्य व हथियार लेकर जुलाई 1927 में भारत आये और भगत सिंह को हथियार और साहित्य सौंपा तथा इसके साथ ही गदर पार्टी के सदस्यों के बीच भी हथियार बांटे। इसी प्रक्रिया में वे अगस्त 1927 में अमृतसर में गिरफ्तार कर लिये गये। अपनी गिरफ्तारी के समय उन्होंने पुलिस के सामने निर्भीकता से घोषणा की थी कि वे भारत से ब्रिटिश हुकूमत को उखाड़ फेंकने के मकसद से अमेरिका से हथियार और गोला बारूद लेकर आये हैं।

अपनी गिरफ्तारी के पांच साल बाद वे 23 अक्टूबर 1931 को रिहा हुए। तब तक भगत सिंह को फांसी हो चुकी थी। 20 मार्च 1933 को उन्होंने लाहौर से ऊधम सिंह के नाम से पासपोर्ट हासिल किया। इसके पहले वे शेर सिंह नाम का इस्तेमाल कर चुके थे। 1933 के अंत तक वे इंग्लैण्ड पहुंचे और इंग्लैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशों के कम्युनिस्ट ग्रुपों के साथ-साथ विभिन्न क्रांतिकारी ग्रुपों, आयरलैण्ड के देशभक्तों और गदर पार्टी के सदस्यों के साथ मीटिंगें करते हुए अपनी गतिविधियां कर रहे थे। 1937 में ब्रिटिश खुफिया विभाग को ये जानकारी मिली कि ऊधम सिंह और शेर सिंह एक ही व्यक्ति है जो भारत में ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के उद्देश्य में लगा ‘एक आतंकवादी’ है, तब से उनकी गतिविधियों की पुलिस निगरानी होने लगी।

ये भी विश्वास किया जाता है कि वे जब पंजाब से बाहर गये तो उन्होंने अपना रास्ता कश्मीर से होते हुए अफगानिस्तान को चुना और बाद में इटली पहुंचे जहां वे सरदार अजीत सिंह के साथ ठहरे थे। इसके बाद वे आस्ट्रिया, स्विटजरलैण्ड, फ्रांस होते हुए इंग्लैण्ड पहुंचे थे। लंदन में वे क्रांतिकारियों के स्थानीय शाखाओं की मदद करने में व्यस्त हो गये। इसके साथ ही इंग्लैण्ड में उन्होंने तरह-तरह के अपनी जीविका के लिए काम किये। 1934-38 तक वे यूरोप के विभिन्न देशों का दौरा कर रहे थे। सोवियत रूस सहित वे विभिन्न देशों से होते हुए दिसम्बर 1938 में इंग्लैण्ड वापस आये। हालांकि वे निरन्तर ब्रिटिश पुलिस व खुफिया विभाग की निगरानी में थे। तब भी इनकी रिपोर्ट में लिखा गया था कि ऊधम सिंह बहुत गोपनीय व्यक्ति है जो लगातार अपना नाम और पता बदलता रहता है और कि इस व्यक्ति का पीछा करना बहुत मुश्किल है। वे आम तौर पर यूरोपीय लोगों के बीच ठहरते थे और कभी भी एक स्थान पर ज्यादा समय के लिए नहीं ठहरते थे। लंदन में भारतीय क्रांतिकारी ग्रुपों की मीटिंगों में वे कभी हिस्सा नहीं लेते थे।

1940 की शुरूआत में वे सैनफ्रांसिस्को की गदर पार्टी के सम्पर्क में थे। ब्रिटिश खुफिया विभाग को अक्टूबर 1939 से लेकर 5 मार्च 1940 तक की उनके बारे में कोई जानकारी नहीं थी। जुलाई-अगस्त 1939 तक द्वितीय विश्व युद्ध का खतरा उत्पन्न हो गया था। इससे ऊधम सिंह की समझदारी को यह और बल मिला कि हिंसात्मक तरीकों से हमला करने का अवसर आ गया है और इस तरह स्वतंत्रता संघर्ष को आगे बढ़ाने का समय आ चुका है।

वस्तुतः द्वितीय विश्व युद्ध में ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा भारतीयों और सोवियत संघ के विरुद्ध की जा रही साजिशों से ब्रिटिश हुकूमत के विरुद्ध ऊधम सिंह की भावनाएं और भड़क उठीं। भारत को जबरदस्ती युद्ध में धकेले जाने से वे विशेष तौर पर लार्ड जेटलैण्ड के विरुद्ध घृणा से भर उठे। ओडायर उनकी सूची में पहले से ही थे। ओडायर ने गदर पार्टी के देशभक्तों को मौत के घाट उतारा था। उसने प्रथम विश्व युद्ध में सेना में भर्ती के दौरान पंजाबियों को यातनाएं दी थीं। जलियांवाला बाग का नरसंहार रचा था। अप्रैल 1919 में मार्शल लॉ के दौरान अत्याचार किये थे। और वह भारत विरोधी प्रचार लगातार और बेरोक-टोक जारी किये हुए थे। लुईसडेन और लार्ड लैमिंगटन ओडायर के इस सिद्धान्त के समर्थक थे कि भारत को लौह हाथों से ही गुलामी की अवस्था में रखा जाना चाहिए। लार्ड लैमिंगटन वह व्यक्ति था जो शहीद भगत सिंह की फांसी के लिए जिम्मेदार था। ऊधमसिंह इन सबके विरुद्ध नफरत से भरे हुए थे और यही नफरत उन्हें कैक्सटन हॉल तक ले गयी।

13 मार्च को वह सुअवसर आया जिसका ऊधम सिंह को लम्बे समय से इंतजार था और वे कैक्सटन हॉल पहुंच गये। वे निश्चित तौर पर ओडायर, जेटलैण्ड, लैमिंगटन और डेन की उपस्थिति के बारे में जानते थे। वे एक अज्ञात किस्म की महिला के साथ हॉल में प्रवेश पा गये। उनकी जेब में रिवाल्वर था। हॉल में वक्ता लोग साम्राज्यवाद के पक्ष में भाषण दे रहे थे। ओडायर का भाषण विशेष रूप से नस्लीय चरित्र लिये हुए था। वह पंजाब में अपने द्वारा किये गये अत्याचारों की शेखी बघार रहा था। जब शायद 4:30 बजे मीटिंग खत्म हुई उस समय ऊधम सिंह ने ओडायर को मार दिया और लार्ड जेटलैण्ड,

लार्ड लेमिंगटन और सर लुईस डेन को घायल कर दिया। ऊधम सिंह को वहीं पर गिरफ्तार कर लिया गया। उसी समय उन्होंने पुलिस के सामने यह कहा कि उन्होंने ओडायर को मारा है वह इसी लायक था और कि वह किसी समाज के लायक नहीं था। उन्होंने घोषणा की कि वह मौत से डरते नहीं हैं और कि वह अपने देश के लिए मर रहे हैं। यह कार्यवाही भारत में भारतीयों पर किये जा रहे अत्याचारों के विरुद्ध प्रतिरोध है। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अंतर्गत भारत में लोगों को मरते देखा है। उन्होंने यह भी कहा कि यदि अवसर मिला तो इस किस्म का विरोध वे बार-बार करेंगे।

इस घटना की खबर जंगल की आग की तरह फैल गयी। ऊधम सिंह के रिश्तेदारों के विरुद्ध भारत में दमन शुरू हो गया। ऊधम सिंह के सम्पर्कों की और उनकी राजनीतिक पृष्ठभूमि की भारत और इंग्लैण्ड में खोज शुरू हो गयी। पुलिस और खुफिया विभाग ने यह निष्कर्ष निकाला कि ऊधम सिंह गदर पार्टी की पृष्ठभूमि वाला एक राष्ट्रीय क्रांतिकारी थे। उन्होंने यह काम अकेले अंजाम दिया था। इसमें न तो कोई बाहरी प्रभाव था और न ही यह किसी षड्यंत्र का हिस्सा था।

14 मार्च से 7 जून 1940 के बीच ऊधम सिंह ने 12 पत्र लिखे थे। इन पत्रों में उन्होंने अपनी मौत को निश्चित बताया था और कुछ चीजें गुप्त तरीके से भेजने का इशारा किया था। जेल के भीतर उनको नियमित तौर पर नहाने की इजाजत नहीं थी। 26 अप्रैल को वह भूख हड़ताल पर गये। 14 मार्च को इनका वजन 172 पौण्ड था जो 7 जून तक घटकर 148 पौण्ड रह गया। 1 मई से 2 जून के बीच उन्हें 93 बार जबर्दस्ती खिलाया गया। 5 जून को जब उन्हें दूसरी जेल में भेजा गया तो उन्हें अत्यन्त कठिन कैदी घोषित किया गया।

4-5 जून 1940 को उनके मुकदमे के दौरान प्रेस पर पहले ही पाबंदी लगायी जा चुकी थी। ऊधम सिंह को इसकी जानकारी नहीं थी। वह कचहरी के मंच का इस्तेमाल भारत की आजादी के मकसद का प्रचार करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ थे। उन्होंने ईश्वर की शपथ नहीं ली। उन्होंने न्यायालय को बताया कि वे 1937 से 1939 के बीच ओडायर से कई बार मिल चुके थे। यदि वह चाहते थे तो उसे और पहले भी मार सकते थे। उन्होंने कहा कि ओडायर की हत्या भारत में ब्रिटिश शासन और युद्ध में भारत को जबरदस्ती झोंके जाने के खिलाफ एक विरोध है। ऊधम सिंह न्यायालय में एक बयान देना चाहते थे लेकिन बयान देते समय जज ने उन्हें कई बार रोका। जब उनको फांसी की सजा सुनाई गयी तब ऊधम सिंह ने कई बार इंकलाब का नारा लगाया। उन्होंने 'ब्रिटिश साम्राज्यवाद मुर्दाबाद', 'गंदे कुत्ते मुर्दाबाद' और 'भारत अमर रहे' के नारे भी लगाये और जूरी की तरफ धूक दिया।

उनकी इस फांसी की सजा के विरुद्ध अपीलें की गयीं लेकिन 27 जुलाई की अंतिम अपील को भी ब्रिटिश अधिकारियों ने रद्द कर दिया। 31 जुलाई 1940 को सुबह 9 बजे ऊधम सिंह ने मौत को गले लगाया और देश की मुक्ति के लिए अपने जीवन का बलिदान कर दिया। उनकी यह कार्यवाही न सिर्फ भारतीयों के लिए बल्कि गुलामी, शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध अपने संघर्ष को जारी रखने वाली समूची मानवता के लिए भी एक प्रतीक बन गयी।

ऊधम सिंह की शहादत आज भी गुलामी, अधीनता, अन्याय, आतंक, दमन तथा शोषण व उत्पीड़न की व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष के लिए एक प्रेरणा स्रोत है।

(साभार: 'नागरिक' वर्ष 18 अंक 15, 1-15 अगस्त 2015)

भगतसिंह का जीवन- नौजवानों के लिए सतत प्रेरणा स्रोत

अमर शहीद भगतसिंह प्रतीक बन चुके हैं, भारत के मुक्ति संग्राम के। वे प्रतीक हैं, हर तरह के अन्याय, शोषण, उत्पीड़न, दमन के खिलाफ लड़ने वाली क्रांतिकारी धारा के। वे हर उस इंसान के दिल की धड़कन में आज भी जिन्दा हैं जो एक खुशहाल, न्याय और बराबरी पर आधारित शोषण मुक्त समाज बनाने के काम में जुटा हुआ है।

भगतसिंह का जन्म 28 सितम्बर 1907 को जिला लायलपुर (अब पाकिस्तान) के एक गांव बंगा में हुआ। उनके पैदा होते ही उनके चाचा सरदार अजीत सिंह का निर्वासन समाप्त होने की सूचना मिली। उसी दिन उनके पिता सरदार किशनसिंह और छोटे चाचा सरदार स्वर्णसिंह जेल से मुक्त हुए। सभी ने प्यार से उसे 'भागो वाला' (भागवान) कहकर पुकारा और दादी ने उसे नाम दिया 'भगतसिंह'।

राष्ट्रीयता और देशभक्ति से ओतप्रोत था, उनका पूरा परिवार, उनका पूरा परिवेश। इसीलिए तो पिता पर और चाचाओं पर तत्कालीन सरकार की 'कृपा दृष्टि' थी। उनके दादा थे, सरदार अर्जुन सिंह। जन्म लिया सिख परिवार में और हो गये आर्य समाजी। यह वह युग था जब आर्य समाज पर सरकार की कोपदृष्टि थी। आर्य समाज के झंडे के नीचे उन्होंने विद्रोह करना सीखा था। अर्जुन सिंह के तीन पुत्र थे- सरदार किशन सिंह, सरदार अजीत सिंह और सरदार स्वर्ण सिंह। तीनों अंधविश्वास के कट्टर शत्रु और देशभक्त। एक ने जीवन भर जेल और घर के बीच आंख मिचौली खेली तो, दूसरा जलावतन होकर विदेशों में स्वाधीनता का युद्ध लड़ता रहा और तीसरा जेल से तपेदिक लाया और भरी जवानी में शहीद हो गया।

भगतसिंह के बचपन के बारे में एक घटना काफी प्रचलित है- ढाई-तीन वर्ष का भगतसिंह एक दिन पिता के साथ खेत पर पहुंचा। पिता देख रहे थे आम के पौधों को, जो तभी रोपे जा रहे थे। पुत्र ने देखा-देखी तिनके उठा-उठाकर रोपने शुरू कर दिये। प्यार से पिता ने पूछा, "क्या कर रहे हो बेटा? उत्तर मिला- "बंदूकें बो रहा हूँ"। सुनने वाले सभी हंस पड़े। इस घटना को कई बार इस तरह पेश किया जाता है जैसे भगतसिंह कोई पैदाइशी क्रांतिकारी थे अथवा विलक्षण बालक थे। अवतारों का इंतजार करने और उन्हें पूजने वाले देश में ऐसा मानने की पूरी जमीन मौजूद है। भगतसिंह, अन्य बच्चों की तरह, एक सामान्य बालक ही थे। इस तरह का विचार तो उस समय के आंदोलन के दौर और उनके पारिवारिक माहौल से उपजा था। भगतसिंह के यज्ञोपवीत के अवसर पर उनके दादा ने अपने दोनों पोतों को कौली में भरकर घोषणा की, "मैं अपने दोनों पोतों को इस यज्ञवेदी के सामने देश के लिए समर्पित करता हूँ।" उन्होंने अपने तीनों पुत्रों को भी देश पर मर-मिटने की शिक्षा दी। ऐसी थी देश प्रेम और त्याग की भावना उस परिवार की। वह ऐसा परिवार न था जो केवल अपने पारिवारिक रिश्तों के हितों से परिचालित था। उनकी संवेदनाओं का दायरा सारे देश को छूता था। आज के परिवारवादी लोगों को शहीद भगतसिंह के परिवार से सीखना चाहिए।

भगतसिंह की मां, विद्यावती भी एक बहादुर और देशभक्त महिला थीं। सभी जानते हैं, वे शहीद की मां थीं, पर वे बेटों की मां भी तो थीं। भगतसिंह को फांसी हो गयी, यह खबर सुनकर उन पर क्या बीती, उन्हीं के शब्दों में, "सुनते ही मेरा कलेजा टुकड़े-टुकड़े हो गया। भीतर से आंसुओं का समुद्र उमड़ता, पर आंखों तक आते-आते मेरी बुद्धि उसे रोक देती। हंसते-हंसते प्राण न्यौछावर करने वाले मेरे बेटे भगत के कहे अंतिम शब्द मेरे कानों में बार-बार गूंज रहे थे, 'बेबेजी, रोना मत। ऐसा न हो आप पागलों की तरह रोती फिरें। लोग क्या कहेंगे कि भगतसिंह की मां रो रही है।' कलेजा मुंह को आने लगता पर मैं भीतर की भीतर घोलती रही उन आंसुओं को"।

एक बेटा शहीद, दूसरे भी बार-बार जेल के भीतर होते। एक बार भाषण देते हुए उन्होंने कहा था "मेरे एक बेटे को तुमने फांसी पर लटकाया, मेरे छोटे देवर सरदार स्वर्ण सिंह को जेल के अंदर अत्याधिक शारीरिक कष्ट पहुंचाकर तपेदिक का रोगी बनाया और इस दुनिया से विदा होने को मजबूर किया। मेरे दूसरे देवर सरदार अजीतसिंह को जलावतन होकर विदेशों में भटकना पड़ा और अब मेरे दो बेटों को बिना मुकदमा चलाये गिरफ्तार कर लिया है। क्या मैं इस सबसे डर गयी? नहीं, मैं मित जाऊंगी पर झुकूंगी नहीं। मैं ब्रिटिश साम्राज्य को नई चुनौती देती हूँ और दूसरे दो बेटे भी देश सेवा के लिए पेश करती हूँ। आओ जालिमों! अगर तुम्हारी हवस अभी पूरी नहीं हुयी तो इनको भी ले जाओ।" ऐसी थी वह मां। क्या उसके अंतर्मन में उमड़ते-धुमड़ते भावों और विचारों को महसूस करना आसान है? क्या वह अपने बेटों से किसी भी दूसरी मां के मुकाबले कम प्यार करती थीं? भगतसिंह के प्रिय साथी बटुकेश्वर दत्त जब दिल्ली के मेडिकल इंस्टीट्यूट में मौत से लड़ रहे थे, तब वे उन्हें देखने आती थीं। उस समय उन्होंने कहा था "यदि ईश्वर कोई ऐसी सर्वोत्तम व्यवस्था कर देते कि पुत्रों के दुख माताओं को लग जाया करते, तो मातायें संसार में अपने एक भी बेटे को दुखी न रहने देतीं।" उनके मातृत्व का दायरा इतना तंग न था, इतना स्वार्थी न था कि उसमें केवल उनके पुत्र ही समायें। देश के करोड़ों लोग उनके मातृत्व के दायरे में सिमट गये थे और उनकी मुक्ति के लिए वह अपने जने बेटों को सहर्ष कुर्बान करने को तैयार थीं। क्या हमारे परिवारों की मांयें उनसे कुछ सीखेंगी?

भगतसिंह की शिक्षा बंगा गांव के प्राइमरी स्कूल से शुरू हुयी। वे स्कूल के कोर्स के अलावा घर में ढेरों किताबें पढ़ते रहते थे। बाद की पढ़ाई शहर के डी.ए.वी. स्कूल में हुयी। यह प्रथम विश्व युद्ध का समय था। 13 अप्रैल 1919 को जलियांवाला बाग कांड हुआ। लाहौर से अमृतसर कुल सोलह मील का ही तो रास्ता था। अगले दिन वह स्कूल के लिए निकले पर पहुंचे जलियांवाला बाग, अमृतसर में, सेना से बच-बचकर। उसकी खूनी सनी मिट्टी को उन्होंने माथे से लगाया और कुछ मिट्टी एक शीशी में भरी और देर रात घर लौट आये। बहुत दिन तक उस मिट्टी पर फूल चढ़ाते रहे। 14 वर्ष की अवस्था में, नवीं कक्षा में उन्होंने, गांधीजी के आह्वान पर, स्कूल छोड़ दिया और आन्दोलन में कूद पड़े। वे जुलूस निकालते और विदेशी वस्त्रों की होली जलाते। तभी

5 फरवरी, 1922 को चौरी-चौरा कांड के कारण गांधीजी ने असहयोग आंदोलन वापस ले लिया। किशोर भगतसिंह के मन ने अहिंसा के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया। असहयोग आन्दोलन वापस लेने के बाद कांग्रेस ने जिन रचनात्मक कार्यों की घोषणा की थी, उनमें एक था, राष्ट्रीय विद्यालय खोलना। देश भर में ऐसे विद्यालय स्थापित हुए। जैसे कलकत्ता में कलकत्ता विद्या मंदिर, अहमदाबाद में गुजरात विद्यापीठ, काशी में काशी विद्यापीठ। पंजाब कांग्रेस के नेताओं ने ऐसा ही एक नेशनल कालेज लाहौर में खोला। इनमें प्रायः वे ही विद्यार्थी पढ़ने आये, जिन्होंने किसी न किसी रूप में असहयोग आंदोलन में भाग लिया था और स्कूल कॉलेज छोड़ दिये थे। यहां शिक्षा देने का तरीका मैकाले प्रणाली से भिन्न था। इनमें मुक्ति आंदोलनों और क्रांतियों का इतिहास पढ़ाया जाता। कई राष्ट्र भक्त विद्वान उनमें शिक्षक थे। भगतसिंह के पिता ने उन्हें इसी कॉलेज में भर्ती करवा दिया। यहां उन्होंने काफी किताबें पढ़ीं। ड्रेनबीन की 'माई फाइट फॉर आयरिश फ्रीडम', मैजिनी और गैरीवाल्डी की जीवनियां, फ्रांसीसी राज्य क्रांति का इतिहास, वाल्टेयर और रूसो के रूढ़िवाद विराधी क्रांतिकारी विचार, रूसी क्रांतिकारियों की जीवनियां, वीरा फिगनर, क्रोपटकिन जैसे लेखकों की रचनायें और इसके साथ-साथ भारत में सत्याग्रह से भिन्न, अन्य देशों में स्वतंत्रता के लिए किये गये प्रयत्नों का परिचय आदि। नेशनल कालेज, लाहौर में द्वारकादास पुस्तकालय भी खोला गया, जहां पुस्तकें ही नहीं पढ़ी जाती थीं, वाद-विवाद भी होते थे। भगतसिंह उसमें समाजवाद का समर्थन करते थे। वे कार्ल मार्क्स और अराजकतावादी बकूनिन दोनों से प्रभावित थे। पुस्तकालय के अध्यक्ष एवं भगतसिंह के क्रांतिकारी मित्र राजाराम शास्त्री के शब्दों में "उन्हें ऐसे क्रांतिकारियों ने सबसे अधिक प्रभावित किया था जो अपना बलिदान करके अपने सिद्धान्तों का प्रचार दुश्मन की अदालत में खड़े होकर किया करते थे।"

इसी समय वे प्रसिद्ध क्रांतिकारी सचीन्द्रनाथ सान्याल से मिले। वे शीघ्र ही क्रांतिकारी दल के सदस्य बन गये। भगतसिंह अभिनय में भी दक्ष थे। उन्होंने एफ.ए. पास कर लिया। कालेज में दो वर्ष पूरे हुए। अब वे बी.ए. के छात्र थे और वर्ष था 1923 का। दादी व पिता ने शादी के लिए जोर दिया। भगतसिंह शादी न करने पर अडिग रहे, आग्रह ने उग्र रूप लिया तो घर से भाग गये।

लाहौर से भगतसिंह कानपुर गये। अब तक उनका परिचय लाला लाजपत राय, आचार्य जुगल किशोर, भाई परमानन्द, जयचन्द्र विद्यालंकार, राजाराम शास्त्री जैसी हस्तियों से हो चुका था। यशपाल आदि तो उनके सहपाठी थे ही। यहां आकर उनका सम्पर्क हुआ शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी, सुरेश चन्द्र महाचार्य से और बटुकेश्वर दत्त, अजय घोष और विजय कुमार सिन्हा जैसे क्रांतिकारियों से। भगतसिंह, गणेश शंकर विद्यार्थी के पास रहने लगे और 'प्रताप' में 'बलवन्त सिंह' के नाम से लिखने लगे। घर वाले निरन्तर उनकी खोज में थे। दादी सख्त बीमार थीं। 'वंदे मातरम' में घर वापस आने का व शादी की जिद वापस लेने का विज्ञापन छपवाया। भगतसिंह घर वापस आये। अपनी दादी को वे बहुत प्यार करते थे। उनकी जमकर सेवा की। दादी ठीक हो गयीं। भगतसिंह अब दिल्ली आ गये थे। वे बलवन्त सिंह के नाम से 'दैनिक अर्जुन' के सम्पादकीय विभाग में काम करने लगे थे। संस्था चलाने और हथियारों के लिए धन की आवश्यकता होती थी। उनसे सहानुभूति रखने वाले उन्हें चोरी-चोरी पैसा देते थे। कोई डर-डर कर और कोई मुक्त हस्त से। एक भी पैसा व्यर्थ नहीं खोते थे, वे लोग। पाई-पाई का हिसाब रखते थे। उनका जीवन अभावों से ग्रस्त रहता था। भूखे पेट सो रहना उनके लिए सहज हो गया था।

क्रांतिकारी आंदोलन धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था। वे यह अनुभव करने लगे थे कि इसके लिए एक खुले मंच की आवश्यकता है। इसीलिए सन् 1923 में भगतसिंह, सुखदेव, भगवती चरण और यशपाल आदि ने लाहौर में 'नौजवान भारत सभा' की स्थापना की। भगतसिंह अध्ययन खूब करते थे, पुस्तकों का भी, परिस्थितियों का भी। वे जनआंदोलन को क्रांतिकारी आंदोलन से जोड़ना चाहते थे। कांग्रेस से पहले ही सन् 1926 में 'नौजवान भारत सभा' ने पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। शीघ्र ही इस सभा की शाखाएं दूर-दूर तक फैल गयीं। इसने सबसे पहला काम जो किया था, वह था, गदर पार्टी के शहीद करतार सिंह सराभा का 'बलिदान दिवस' सार्वजनिक रूप से मनाया। उद्देश्य था, पंजाब में एक मनवैज्ञानिक वातावरण पैदा करना। जनता से जुड़ने के लिए भगतसिंह ने विद्यार्थियों की एक यूनियन भी बनाई थी। उन्होंने अपनी कलम का भी पूरा उपयोग किया था। 'चांद' के सुप्रसिद्ध 'फांसी' अंक में उन्होंने खूब लिखा था। किसान पार्टी के अखबार 'कीर्ति' में भी वे लिखते थे।

नौजवान भारत सभा एक युग तक सक्रिय संस्था बनी रही। वह अंधविश्वास और कुरीतियों पर चोट करती थी। सामाजिक क्रांति का आह्वान करती थी। देश की स्वतंत्रता के लिए सशस्त्र क्रांति तो उसका लक्ष्य था ही, छूआछूत और साम्प्रदायिकता पर चोट करने के लिए सहभोज भी होते थे। एक बार झटके और हलाल का गोश्त एक ही बर्तन में पकाया गया। उसे हिन्दू, मुसलमान और सिख ने साथ बैठकर खाया।

8 और 9 सितम्बर 1928 को दिल्ली के फिरोजशाह कोटला के खण्डहरों में क्रांतिकारियों की अखिल भारतीय सभा हुयी। दस क्रांतिकारियों की अखिल भारतीय सभा। काकोरी षड्यंत्र के कुछ क्रांतिकारी और फिर भगतसिंह इस बात पर विचार करने लगे थे कि मात्र आजादी से समस्या का हल नहीं होगा। उसके बाद सरकार किसकी होगी? उसका स्वरूप क्या होगा? इन बातों पर भी विचार करना होगा। भगतसिंह व अन्य साथी रूस की समाजवादी व्यवस्था के समर्थक थे। अतः दल का नाम बदलकर 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' यानी 'हिन्दुस्तानी समाजवादी प्रजातंत्र संघ' कर दिया गया।

भगतसिंह इस ऐतिहासिक बैठक के बाद एक महत्वपूर्ण रूप से समर्पित क्रांतिकारी के रूप में प्रकट हुए। चूंकि अखिल भारतीय नेता के रूप में उन्हें सारे भारत में घूमने की आवश्यकता थी, इसलिए फिरोजशाह जाकर उन्होंने बाल कटवा दिये। इस केश-कर्तन का श्रीगणेश पहले मित्रों ने किया, जिससे संदेह न हो। उसके बाद नाई आया। नाम रखा गया रणजीत। भगतसिंह बम बनाना सीखने कलकत्ता गये।

उन्हीं दिनों कांग्रेस ने भारी बहुमत से चुनाव जीता। बड़े आंदोलन की स्थिति बनने लगी थी। तभी ब्रिटिश सरकार ने सुधारों के नाम पर 'साइमन कमीशन' की घोषणा की। पूरे देश में साइमन कमीशन का विरोध हुआ। लाठी चार्ज किया गया और लाला लाजपत राय पर लाठियों पड़ीं। बाद में उनकी मृत्यु हो गयी। क्रोध की एक तूफानी लहर चारों तरफ फैल गयी। कलकत्ता में श्रीमती वासन्ती देवी ने शोक सभा में कहा था, "लालाजी की चिता ठंडी होने से पहले ही क्या कोई युवक इस अपमान का बदला लेगा।"

साण्डर्स को मारने का निश्चय हुआ। मुख्य जिम्मेदारी थी चन्द्रशेखर आजाद की और गोली मारने का काम मिला भगतसिंह और राजगुरु को। 17 दिसम्बर, 1928 को पूर्व योजना के तहत साण्डर्स को गोली मार दी गयी। सरकार स्तब्ध रह गयी। सारी जनता रोमांचित हो उठी। भगतसिंह रातों-रात जनता के हीरो बन गये। भगतसिंह की प्रसिद्धि एक हिंसात्मक या आतंकवादी कार्य के लिए नहीं हुयी। भगतसिंह इसलिए प्रसिद्ध हुए क्योंकि उन्होंने लाला लाजपत राय की मृत्यु का बदला लिया और इस प्रकार देश के सम्मान की रक्षा की। वह एक प्रतीक बन गये। इन दिनों कलकत्ता में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन चल रहा

था। पूर्ण स्वराज की घोषणा पर बहस थी। पूर्ण स्वराज घोषित नहीं किया गया। देश उत्तेजित था। कलकत्ता कांग्रेस ने उसके चिन्तन की धारा स्पष्ट कर दी थी। भगतसिंह को लग रहा था कि कांग्रेस पीछे हट रही है। उनके दिमाग में फ्रांसीसी अराजकतावादी वेरा के नक्शेकदम पर असेम्बली में बम फेंकने की योजना रूप लेने लगी थी। अन्य लोग भी सहमत हो गये। भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त को यह काम सौंपा गया। इस बात का भी निर्णय हो चुका था कि बम कब फेंके जाने हैं। उन दिनों केन्द्रीय असेम्बली में दो बिल पेश थे। एक पब्लिक सेफ्टी बिल (जन सुरक्षा बिल) और दूसरा ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल (औद्योगिक विवाद बिल)। पहले बिल का उद्देश्य जन-आंदोलन को, विशेषकर युवक आंदोलन को कुचलना था और दूसरे में मजदूरों को हड़ताल करने के अधिकार से वंचित करना था। भगतसिंह जानते थे कि यह विधेयक वायसराय अपने विशेषाधिकार से पास करेंगे। जिस समय इन बिलों को स्वीकार करने की सूचना असेम्बली को दी जाए, उसी समय बम फेंके जाएं- ऐसा क्रांतिकारी दल का अंतिम निर्णय था। वह 8 अप्रैल 1929 का दिन था। तब साथी निश्चित समय पर असेम्बली में पहुंचे। भगतसिंह और दत्त ऐसे स्थान पर बैठे जहां से किसी सदस्य को हानि पहुंचाये बिना बम फेंका जा सकता था। निश्चित समय पर बमों के दो धमाके हुए और फिर लाल रंग के कुछ परचे फेंके गये। दोनों ने हथियार सौंपे और अपने को गिरफ्तार करा दिया। अदालत के माध्यम से अपने विचारों का प्रचार करने लगे। मुकदमे का प्रारम्भ 7 मई 1929 को हुआ और बहुत शीघ्र ही वह 'ऐतिहासिक' बन गया। भगतसिंह ने विचारों का प्रचार करने के लिए अदालत के मंच का भरपूर इस्तेमाल किया।

मुकदमे में बचाव की ओर से वे पूर्णतः निर्लिप्त रहे। 12 जून, 1929 को दोनों को आजीवन कारावास की सजा सुना दी गयी। अदालत प्रचार का अच्छा साधन थी। अतः हाईकोर्ट में अपील की गयी। वहां भी यही सिलसिला चला। पूरे देश में मुकदमे ने उथल-पुथल मचा दी थी। 13 जनवरी 1930 को उन दिनों की अपील रद्द कर दी गयी। उन्हीं दिनों भगतसिंह ने जेल में राजनैतिक कैदियों के साथ होने वाले दुर्व्यवहार, यातनाओं को सहने, खाने-पढ़ने की बुरी व्यवस्था का प्रतिरोध किया। भगतसिंह और साथियों ने भूख हड़ताल का निर्णय लिया। 14 जून 1929 को भूख हड़ताल आरम्भ हो गयी। 13 सितम्बर 1929 को यतीन्द्रनाथ द्वारा किये अनशन के कारण मृत्यु हो गयी। भूख हड़ताल जारी रही। आखिर मांगें मानी गयीं। तब 114वें दिन, 5 अक्टूबर 1929 को अनशन समाप्त किया गया।

अंततः 7 अक्टूबर 1930 को भगतसिंह, सुखदेव व राजगुरु को फांसी की सजा सुना दी गयी। लाहौर में जैसे भूचाल आ गया। सारे देश में प्रदर्शन हुए। आखिर वह क्षण आ पहुंचा जिसने इतिहास को एक बार फिर महत्वपूर्ण बना दिया। काल कोठरी का दरवाजा खुला। जेल के अधिकारियों ने सूचना दी, 'सरदारजी, फांसी लगाने का हुक्म आ गया है। आप तैयार हो जाएं।' उस समय भगतसिंह लेनिन की जीवनी पढ़ने में व्यस्त थे। बिना आंख ऊपर उठाये बोले, "ठहरो एक क्रांतिकारी दूसरे क्रांतिकारी से मिल रहा है।"

स्वर में अमिट विश्वास था। स्तब्ध अधिकारी कुछ न कह पाये। कुछ क्षण बाद भगतसिंह ने पुस्तक को छत की ओर उछाल दिया, उठे और कहा, "चलो"। उनकी इच्छा थी कि न तो उनके हाथों में हथकड़ी लगायी जाये, न उनके चेहरे को कनटोप से ढंका जाए। ऐसा ही किया गया। अभी संध्या होने में देर थी। बंदी सब अपने-अपने स्थान पर बंद कर दिये गये थे। भगतसिंह ने अंतिम बार अपनी कोठरी की ओर निहारा। इसके बाद भगतसिंह ने गाना शुरू कर दिया-

**“दिल से निकलेगी न मरकर भी वतन की उलफत
मेरी मिट्टी से भी खुशबू-ए-वतन आयेगी।”**

अपने फंदे को पकड़ा, गले में डाल लिया। सहज भाव से उन्होंने जल्लाद से कहा, "कृपा कर अब इन फंदों को ठीक कर लें।"

उस समय संध्या के 7 बजकर 33 मिनट हुए थे। जेल का प्रांगण नारों से गूंज रहा था। सभी बंदी जान गये थे। अधिकारी डर गये। लाशें बाहर गयीं तो बलवा हो सकता है। चुपचाप उन्होंने शव को खण्ड-खण्ड किया, बोरियों में भरा और पीछे के छोटे द्वार से बाहर ले गये। वहां ट्रक खड़ा था। उसे लेकर सतलज के किनारे वह फिरोजपुर की ओर चल पड़ा। अन्य जगहों से सुखदेव व राजगुरु की भी लाश वहां लाई गयी। लाशों से भी डर जाए, उस सरकार को कोई क्या कहे? उसने एक सिख ग्रंथी और एक हिन्दू पण्डित को साथ अवश्य लिया पर विधि-विधान से संस्कार में तो समय लगता है। उसी बीच में क्रांति उन्हें निगल सकती है। सो उन्होंने घी के स्थान पर मिट्टी के तेल का प्रयोग किया। लाशें जलीं? प्रकाश तो होना ही था। उस प्रकाश ने लोगों को आकर्षित किया। वे अब तक सब कुछ सुन चुके थे। हाथों में मशाल लेकर आते लोगों को देखकर अधिकारी डर गये। उन्होंने लाशों के अधजले टुकड़ों को सतलुज में फेंका और प्राण बचाकर भाग खड़े हुए।

दूसरे दिन सबेरे वहां आये। उन्होंने चिता के स्थान को खोजा, फिर लाशों के अधजले टुकड़े ढूंढे और एक बार फिर उन्हें विधिवत चिता पर रखा। आकाश 'इंकलाब जिन्दाबाद' के नारों से गूंज उठा।

(साभार: नागरिक -वर्ष 2 अंक 6, 16-31 मार्च 1999)

भारतीय क्रांति के प्रतीक भगतसिंह

जैसे हमारे देश के हालात हैं और जिस ढंग से वे बद से बदतर होते जा रहे हैं। ऐसे मौके पर भगतसिंह की याद आना स्वाभाविक है। उन्हें याद करने का सीधा अर्थ है, “आओ मुकाबला करें”।

भगतसिंह भारतीय क्रांति के प्रतीक हैं। वे ऐसी क्रांति के प्रतीक हैं जो आज तक उस मंजिल को हासिल नहीं कर सकी जिसे हासिल करने के लिए उनके पहले और बाद में हजारों-हजार लोगों ने एक नये भविष्य को भारत में उतारने के लिए अपनी जानें कुर्बान कर दीं। कुर्बानी का यह सिलसिला जारी है, भारतीय क्रांति की मशाल एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुंचती गयी है।

भगतसिंह भारतीय क्रांति के आदर्श हैं। वे अपने जज्बे, अपनी दृढ़ता के कारण ही नहीं बल्कि कहीं उससे बढ़कर अपनी वैज्ञानिक समझ और भारत की मुक्ति के स्पष्ट कार्यक्रम की वजह से आदर्श हैं और उनकी कम उम्र को देखते हुए कोई भी सहज ही कह सकता है कि यह व्यक्ति वाकई महान था।

भगतसिंह भारत की आजादी की लड़ाई में भारत के शोषित-उत्पीड़ित तबके की आवाज थे। वे भारत के मजदूरों, किसानों की मुक्ति में ही भारत की मुक्ति देखते थे। वे स्पष्ट तौर पर यह कहते थे कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी पूंजी के हाथ से सत्ता भारतीय पूंजी के हाथ में आ जाने से भारत की मेहनतकश जनता की गुलामी बनी रहेगी बेशक उसका रूप बदल जायेगा। वे घोषणा करते थे कि समाजवाद ही वह रास्ता है जहां से होकर भारत की मुक्ति का रास्ता जाता है।

वे नास्तिक थे। अल्प आयु में लिखा उनका लेख “मैं नास्तिक क्यों हूँ” धार्मिक पाखण्ड और धर्म के नाम पर धंधा करने वालों पर करारी चोट है। वैज्ञानिक व तार्किक चिंतन करने वाले अच्छी तरह से समझ सकते हैं कि धर्म मानव मुक्ति की राह को आसान नहीं बल्कि स्वयं एक बहुत बड़ी बाधा है।

भगतसिंह ने अपने समय में पूरे देश को साम्प्रदायिक दंगों की आग में झुलसते देखा था और वे इस नतीजे पर पहुंचे थे कि इसके पीछे घृणित शासक वर्गीय राजनीति है। उनके जाने के बाद हिन्दुस्तान ने और भी बुरे दिन देखे। देश का धार्मिक आधार पर बंटवारा कर दिया गया। लाखों लोग आज तक इन दंगों की भेंट चढ़ चुके हैं। अब तो देश में हिन्दू फासीवादी मंसूबे पालने वालों की सरकार है जो पूरे देश को मध्ययुगीन धार्मिक कूपमंडूकता में धकेल कर भारत को एक हिन्दू राष्ट्र बनाना चाहती है। देश के प्रधानमंत्री संसद में अपने पहले ही भाषण में भारत की 1200 साल गुलामी की बात कर अपनी घृणित सोच सामने रख देते हैं।

हिन्दू फासीवादी आंदोलन आज जब देश में नयी ऊंचाइयों को छू रहा है तब भगतसिंह की याद हर उस शख्स को आना स्वाभाविक है जो इस आंदोलन को निर्णायक शिकस्त देने का इरादा रखता हो। भगतसिंह को केसरिया पगड़ी पहनाने अथवा उनके नाम के आगे सरदार जोड़ देने से वे भगतसिंह के क्रांतिकारी विचारों को भारतीय समाज में फैलने से नहीं रोक सकते हैं। भगतसिंह की झूठी, नकली छवि को भारतीय समाज में स्थापित करने का षड्यंत्र कामयाब हो नहीं सकता। जो कोई भी भगतसिंह के नाम के बाद उनके सिद्धान्त के करीब जायेगा वह स्वाभाविक तौर पर भगतसिंह की राह को अपना लेगा। और यह राह भारत के मजदूरों, किसानों के साथ अपना भाग्य जोड़ने और भारतीय समाज में समाजवादी क्रांति को सम्भव बनाने की ओर ले जाती है।

भारत की आज की समस्याओं का समाधान समाजवाद में ही छुपा हुआ है। समाजवाद का अर्थ वह नहीं है जो मुलायम के गुरू लोहिया अथवा देश के पहले प्रधानमंत्री नेहरू प्रस्तुत करते रहे हैं। समाजवाद का सीधा अर्थ है पूंजी के राज का पूर्ण खात्मा और सत्ता सीधे भारत के मजदूरों-किसानों के हाथ में हो। भारत के मजदूर, किसान वास्तविक शासक हों। भगतसिंह को याद करने का सीधा अर्थ है इस दिशा में काम किया जाये। सारे पूंजीवादी भ्रमों को तोड़कर देश के शोषित-उत्पीड़ितों को संगठित किया जाये और समाजवाद को भारतीय समाज की वास्तविकता में तब्दील कर दिया जाए।

भगतसिंह के अंदर क्रांतिकारी आदर्शवाद कूट-कूट कर भरा हुआ था। कदाचित वह क्रांतिकारी आदर्शवाद ही था जिसने भगतसिंह को भारतीय क्रांति का प्रतीक बना दिया। उनका अपने निजी जीवन के संचालन से लेकर उनकी पूरी क्रांतिकारी गतिविधियों में बार-बार देखा जा सकता है। आज इस क्रांतिकारी आदर्शवाद की भारत के छात्रों-नौजवानों को बेहद आवश्यकता है। इसके अभाव में जीवन की निस्सारता का अहसास गहराने से भारत के छात्र-नौजवान भयानक ढंग से आत्मिक संकट के शिकार हो रहे हैं। क्रांतिकारी आदर्शवाद का तकाजा है कि हम अपने जीवन को सर्वश्रेष्ठ काम को समर्पित करें। और यह सर्वश्रेष्ठ काम ब्रिटिश गुलामी के दिनों में उस गुलामी से मुक्ति के संघर्ष में था। आज यह सर्वश्रेष्ठ काम पूरी मानव जाति को पूंजी की गुलामी से मुक्ति की लड़ाई में छुपा हुआ है।

पूरी मानव जाति रक्तपिपासु वित्तपतियों के चंगुल में फंस गयी है। चंद खरबपति पूरी मानवजाति को अपने इशारों में नचा रहे हैं। वे मनमानी नीतियां ही नहीं सरकारें बनाते और गिराते हैं। हमारे देश के हालिया आम चुनाव को भारत के चंद वित्तपतियों ने पूरी तरह से नियोजित और प्रायोजित कर डाला। देशी-विदेशी पूंजी के आशीर्वाद से एक ऐसा व्यक्ति भारत का प्रधानमंत्री बना दिया गया जिसके ऊपर हजारों तरह के इल्जाम हैं। जैसा भारत में हुआ वैसा ही पूरी दुनिया में देखा जा सकता है। जहां पूंजी अपनी प्रचण्ड ताकत के द्वारा एक ऐसा खेल खेल रही है जिसमें मजदूर-मेहनतकशों का जीवन दिनोदिन बद से बदतर होता जा रहा है। असल में पूंजीवाद मानव जाति को कुछ भी देने में अक्षम हो जा रहा है। यह व्यवस्था मानव जाति पर बहुत बड़ा बोझ बन चुकी है। इस व्यवस्था को चलाने वाले कितने ही चिकने-चुपड़े हों या कितने ही बड़े भाषणकर्ता पर असल में वे ही हैं जो आज मानव जाति के सबसे बड़े दुश्मन हैं।

भगतसिंह को याद करने का अर्थ सिर्फ उनके दिनों, उनके कारनामों या उनके विचारों का जाप करना नहीं है। उनको याद करने का अर्थ है कि हम अपने युग की चुनौतियों को साहसपूर्वक स्वीकारें और उस राह पर अपने आदर्श की तरह बेबाकी से चलें।

(साभार : नागरिक- वर्ष-18, अंक-06, 16-31 मार्च, 2015)